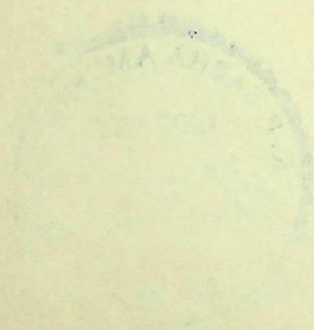
72

शीराज़ा

ललितकला, संस्कृति व साहित्य अकादमी जम्मू-कश्मीर जम्मू





शीराज़ा

(हिन्दी)

वर्ष : ५   अंक : २

संचालक
नीलाम्बरदेव शर्मा
(सचिव)

सम्पादक
नरेन्द्र खजूरिया

ललितकला, संस्कृति व साहित्य अकादमी, जम्मू-कश्मीर, जम्मू।

वार्षिक : आठ रुपये

प्रति अंक : दो रुपये

सम्पादकीय पत्र-व्यवहार का पता :

नरेन्द्र खजूरिया

सम्पादक 'शीराजा' (हिन्दी)

ललितकला, संस्कृति व साहित्य अकादमी, जम्मू व कश्मीर,

एक्सचेंज रोड, जम्मू.

फोन : ५०४०

श्री नीलाम्बरदेव शर्मा, सैक्रेटरी, द्वारा, ललितकला, संस्कृति व साहित्य अकादमी जम्मू व कश्मीर के लिए प्रकाशित तथा सवेरा आर्ट प्रिंटर्स, जम्मू में मुद्रित ।

१९६९—दो

पत्र-मंच

● श्री बच्चन, नई दिल्ली ।

'शीराज़ा' मुझे यथासमय मिला । सुरुचिपूर्ण तथा उपयोगी है । इससे जम्मू-कश्मीर की सांस्कृतिक उपलब्धि और जीवन का ज्ञान पाठकों में बढ़ेगा ।
जम्मू और कश्मीर के लेखकों को आगे लाएं ।

● श्रीमती तारा तिक्कू, संपादिका, 'भाषा' नई दिल्ली ।

'शीराज़ा' मिला । इसमें प्रकाशित सामग्री सुरुचिपूर्ण है । डोगरी भाषा तथा कश्मीरी जीवन के संबंध में पठनीय सामग्री इसमें संग्रहीत की गई है ।
'शिराज़ा' के नये अंकों की प्रतीक्षा रहेगी ।

● श्री केशव गोपाल निगम, संपादक 'आजकल' नई दिल्ली ।

'शीराज़ा' पत्रिका मिली, धन्यावाद । पत्रिका बहुत सुन्दर बन पड़ी है और मुझे आशा है कि यह दिनों दिन उन्नति करेगी । कृपया मेरी बधाई स्वीकार करें । 'शिराज़ा' के हरेक अंक की मैं और मेरे सहयोगी उत्सुकता से प्रतीक्षा करेंगे ।

● डा० शिवनन्दन कपूर, खंडवा (म० प्र०) ।

...पत्रिका के लिए धन्यवाद । अवकाश में बाहर चले जाने से उत्तर न दे सका । 'शीराज़ा' के द्वारा आप हिन्दी विशेषतः कश्मीरी साहित्य एवं कला के उत्थान में जो योग दे रहे हैं वह सराहनीय है । कश्मीर साहित्य से सबंद्ध लेखों के साथ अयूत्र प्रेमी की कविता रुचिकर लगी । मेरा अभिन्दन ।

इस अंक में

लेख

काव्य-धारा

कथा-साहित्य

स्तम्भ

बिम्ब-प्रतिबिम्ब

● राम दरश मिश्र

हिन्दी के कुछ युद्ध काव्य ●

युद्ध हमेशा से होते आये हैं और कुछ संवेदनशील व्यक्तियों को युद्ध हमेशा मानवीय मूल्यों के लिए एक भीषण संकट के रूप में दीखता रहा है, युद्ध से सदैव एक मनीषा, एक कवि, एक मनुष्य आहत होता रहा है किन्तु अहंकार, भोग, राज्य विस्तार की लिप्सा सदा से जीभ लपलपाती हुई युद्ध के रूप में सामाजिक मूल्य को चुनौती देती रही है और तब ? तब एक भयानक युद्ध, नर-संहार, विकृतियां, खंडित आस्थाएं, टूटे हुए मूल्य......युद्ध की विभीषिका आधुनिक काल में बढ़ गयी है। युद्ध का रूप और उसके परिणाम दोनों ही अत्यन्त भयानक और विश्वग्रासी हो गए हैं। एक ओर भौगोलिक दूरियों के टूट जाने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय मानसिक क्षितिज का विस्तार हुआ है, दूसरी ओर एक का संकट दूसरे का संकट भी हो गया है। दो शक्तियों की टकराहट से बार-बार युद्ध की चुनौती के स्फुलिंग उड़ते हैं और सारा विश्व भयानक विनाश के भय से थर्रा उठता है। थोड़े ही वर्षों के अन्तराल से विश्व के पटल पर दो दो महायुद्धों का उतर आना कितना भयावह रहा। तीसरे विश्वयुद्ध की आशंका भी रह रह कर कौंध उठती है। एक ओर बहुत से देश विश्व-परिवार की कल्पना करते हैं, दूसरी ओर अपनी राष्ट्रीय सीमाओं के विस्तार में लगे हुए हैं। इस षड़यंत्र में पूंजीवादी और साम्यवादी दोनों ही देश शामिल हैं, शेष देश अपनी सीमाओं की सुरक्षा में अपनी राष्ट्रीय सम्पत्ति का अधिकांश भाग झोंक रहे हैं। राष्ट्रीयता जहां एक अन्धे उन्माद को जन्म दे रही है वहीं अन्तर्राष्ट्रीयता एक नये प्रकाश मार्ग की खोज कर रही है। इससे मूल्यों में अद्‌भुत टकराहट उत्पन्न हो गयी है। राष्ट्रीयता का ही पुनर्परीक्षा घटते हुए प्रबुद्ध लोग उसे

अन्तर्राष्ट्रीय मानव चेतना से संलग्न करना चाहते हैं। विज्ञान की नयी खोजें जहां एक ओर मानव शक्ति की नयी संभावनाएं उद्घाटित कर रही हैं वहीं अणुबम और परमाणुबम का निर्माण कर मानव मात्र के विनाश की आशंकाएं पैदा कर रही हैं। हिरोशिमा और नागासाकी की बम पीड़ित जनता विनाश की एक छोटी सी भूमिका है।

इसीलिए आधुनिक काल में प्रायः विश्व की सभी भाषाओं में युद्ध सम्बन्धी कविताएं लिखी गयी हैं। किन्तु इन कविताओं में (सस्ती राजनीतिक कविताओं को छोड़ कर) राष्ट्रीय उन्माद में आकर युद्ध को प्रोत्साहित करने के स्थान पर एक मानवीय स्तर पर युद्ध के प्रश्नों पर विचार किया है—उसी अनिवार्य स्थितियों, द्वन्द्वों, और परिस्थितियों के बीच से गुज़रती हुई मानव-यातना की अनुभूति उभारी है। इस चिन्ता और अनुभूति को कवियों ने मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय, मानवतावादी सत्यों के आलोक में विकसित अनेक जीवन प्रश्नों और मानव-कल्पनाओं से संदर्भित किया है।

यह सच है कि युद्ध सदा मानव-समाज को यातना, टूटन और अंधकार प्रदान करता है इसलिए वह मानव मूल्यों की दृष्टि से गर्हित है और मानव मूल्यों में आस्था रखने वाला हर विवेकशील प्राणी युद्ध की अनिवार्यता को बार बार टालने का प्रयत्न करता है और युद्ध होने के बाद भी विजयोल्लास से उन्मत्त होने के स्थान पर एक पीड़ा, एक विषाद और आत्मग्लानि से भर जाता है। फिर भी युद्ध होते हैं, क्योंकि किन्हीं परिस्थितियों में वे अनिवार्य हो उठते हैं। जहां अंधकार प्रकाश को निगलने के लिए बार-बार मुंह फाड़ता हो, वहां आखिर विकल्प क्या बचता है ? और ऐसे अवसरों पर मानवता की ओर से लड़ा गया युद्ध मानव-मूल्य के सौन्दर्य से दीप्त होता है। वास्तव में मूल्य एक जटिल वस्तु है उसकी परख परिस्थितियों की सापेक्षता में ही की जा सकती है। जो गुण एक व्यक्ति के लिए मूल्य हो सकते हैं वही समाज के लिए दोष और कमजोरी भी। 'कुरुक्षेत्र' में आत्मग्लानि में डूबे युधिष्ठिर से भीष्म पितामह यह कहते हैं कि तप, त्याग, क्षमा, शान्ति एक व्यक्ति के भूषण तो हो सकते हैं किन्तु उस समाज के लिए नहीं जिसकी स्वाधीनता, अधिकार और स्वाभिमान को ग्रसने के लिए एक दूसरा समाज ललकारता हो।

कुरुक्षेत्र

कुरुक्षेत्र एक काव्यात्मक गीता है जिसमें आध्यात्मिक चिन्तन के स्थान पर आधुनिक जीवन के प्रश्नों का चिन्तन है। युद्ध की समस्या को लेकर लिखे गए प्रबन्ध काव्यों में 'कुरुक्षेत्र' का बहुत ऊंचा स्थान है। कवि ने युद्ध को निंद्य बताते हुए भी आधुनिक परिवेश में उसके जटिल रूप को, उसके संक्रान्त मूल्य को उभारा है। प्रश्न

इतना ही नहीं है कि युद्ध निंद्य है—उससे बड़ा प्रश्न यह है कि यह निंद्यवस्तु बार बार इतनी अनिवार्य क्यों हो उठती है और युद्ध के रूप में इतिहास की एक बहुत बड़ी चुनौती क्यों बार-बार शांतिप्रिय लोगों को स्वीकार करनी पड़ती है ? क्यों उन्हें ऐसा लगता है कि एक विशेष सामाजिक या मानवी संदर्भ में युद्ध शान्ति की अपेक्षा अधिक मूल्यवान हो जाता है ? इस ओर या उस ओर खड़ा होकर एक विशेष प्रकार के निर्णय की साफ-साफ घोषणा करना आसान है किन्तु मानव-नियति और विषम सामाजिक परिस्थितियों से गुजरता हुआ सत्य अपने को न जाने कितने आवर्तों में लिपटा हुआ पाता है और आज की कविता इस सत्य के गहन और संक्रांत स्वरूप को उद्घाटित करना जितना प्रासंगिक मानती है उतना उसके किसी काल्पनिक निर्णय का स्वप्न चित्रित करना नहीं। उत्तर भले न मिल पाता हो प्रश्न और प्रश्न और प्रश्न तो करना ही है। 'कुरुक्षेत्र' में भी वास्तव में कोई उत्तर नहीं है। युद्ध का कोई समाधान नहीं है। जहां समाधान खोजने का प्रयास है वहां कवि केवल स्वप्न-द्रष्टा रह गया है—अर्थात् ऐसा हो तो ऐसा होगा और आओ, हम उस दिन की आशा से मुंह न मोड़ें, किन्तु कुरुक्षेत्र की शक्ति उसकी यह आशा नहीं है, उत्तर का काल्पनिक नियोजन नहीं है बल्कि वह द्वन्द्व ग्रस्त प्रश्न है जो धर्मराज और भीष्म के माध्यम से उसके भीतर से गुजरता है।

शान्ति काम्य है, युद्ध निंद्य है किन्तु युद्ध के लिए अनिवार्य परिस्थितियां उत्तरदायी होती हैं। जब अनुनय हार जाता है तब प्रतिरोध आवश्यक होता है। इस अवस्था में विनय, शांति, क्षमा मूल्य न रह कर पाप बन जाते हैं—सामाजिक पाप। सच बात तो यह है कि विनय, क्षमा, त्याग उसी को शोभते हैं जिसमें पौरुष हो, आंच हो। अतः विशेष, परिस्थितियों में युद्ध प्रकृति और समाज का धर्म बन जाता है। सामाजिक युद्ध का उत्तरदायी व्यक्ति नहीं होता। इसलिए अपने को युद्ध का उत्तरदायी मान कर ग़लत ढंग से एक ऐतिहासिक निर्णय को अपने ऊपर ओढ़ना होता है।

किन्तु युद्ध की अनिवार्यता को स्वीकार कर लेने मात्र से प्रश्नों का अन्त नहीं होता। युद्ध शुरू होने पर मूल्य ऐसे उलझ जाते हैं कि रावण और कौरवों के असंख्य अधर्म प्रहारों के साथ राम और पांडवों को भी कुछ न कुछ अधर्म प्रहार करने ही पड़ते हैं। धर्म जहां थोड़ा सा स्खलित हुआ, वह सरकता और उलझता हुआ चला जाता है और धर्मयुद्ध शुरू करने वाला इस अधार्मिकता के लिए कहीं न कहीं विवश हो जाता है और अपनी इस विवशता और उसके परिणाम स्वरूप उत्पन्न अधार्मिकता का बोध उसे निरंतर पीड़ित करता है अर्थात् वह एक ही साथ एक युद्ध बाहर लड़ता है, एक भीतर। एक ओर भीषण नर-संहार करता है दूसरी ओर उसे लगता है कि वही अनेक लोगों के रूप में अनेक बार मर रहा है। युयुत्सा और मानवीय करुणा का एक भयानक द्वन्द्व उसे

कसता चला जाता है और विजय के पश्चात् भी वह उल्लास नहीं, पश्चाताप भोगता है, साम्राज्य नहीं सामने बिछा हुआ श्मशान पाता है। युद्धोत्तर समाज के सारे विघटन, विकलांग जीवन, श्रीहीनता, छटपटाहट आदि को उदास आंखों से देखता है और विजयश्री उसके सामने उपेक्षित सी खड़ी रहती है। कुरुक्षेत्र के 'धर्मराज' उसी प्रकार के एक संवेदनशील योद्धा के मूर्त्त रूप हैं, जो आत्मग्लानि के अतिरेक में अपने को ही युद्ध का उत्तरदायी मानकर भीष्म के सामने विलाप करते हैं।

वास्तव में हमारा काव्य अब तक यह सोचने का आदी रहा है कि विपक्षी का मरना और है और स्वपक्षी का मरना और है। पक्ष के लोगों का मरना दुखदायी है और विपक्ष के लोगों का मरना सुखदायी। आज का काव्य पूरे युद्ध को एक मानवीय धरातल पर लेता है, मरता चाहे कोई हो, एक मानव मर रहा है। उसका दर्द हमारा दर्द है, उसका खून हमारा खून है, उसकी मृत्यु जैसे हमारी मृत्यु है। इतना होने पर भी यह अनिवार्य रूप तो है ही नहीं तो उसे हम मारते क्यों? 'धर्मराज' इसी प्रकार युद्ध की यातना को एक विराट मानवीय धरातल पर देखते हैं। किन्तु एक संवेदनशील विजेता आत्मग्लानि की अवस्था में उसी प्रकार असंतुलित होकर अपने को उत्तरदायी मान कर स्व को पीड़ित करने लगता है जिस प्रकार एक क्रूर विजेता अपने को विजयी मान कर असीम क्रूर उल्लास का अनुभव करता है।

इसलिए भावुकता से अतिक्रांत धर्मराज अपने समस्त पीड़ित रूप में युद्ध के केवल एक पक्ष को व्यक्त कर पाते हैं। युद्ध का जो जटिल प्रश्न है उसे बौद्धिक स्तर पर सामने रखने में वे असफल रहते हैं। यह काम करते हैं भीष्म। इस प्रकार कुरुक्षेत्र धर्मराज और भीष्म के माध्यम से युद्ध के मूल्य और नियति की अलग अलग धाराओं में बंट जाता है। धर्मराज मूलतः युद्ध के मानवीय मूल्य का प्रश्न उठाते हैं, भीष्म नियति का। इस क्रम में धर्मराज व्यक्तिवादी ढंग से अपने को युद्ध का उत्तरदायी मान कर शांति, क्षमा, त्याग, प्रेम आदि मानवीय मूल्यों का विनाशक मानते हैं और बहाने से यह कहना चाहते हैं कि युद्ध चाहे जिस रूप में हो वह मानवता का संहारक है और अपना सब कुछ खो कर भी मानवीय मूल्यों के पक्षधरों को युद्ध नहीं करना चाहिए। भीष्म सामाजिक चेतना के प्रतीक हैं, उनमें भावुकता के स्थान पर तटस्थ चिन्तन है, इसलिए वे युद्ध की नियति के बारे में बात करते हैं और कहना चाहते हैं कि व्यक्ति के सन्दर्भ में जो मूल्य हैं वे ही समाज के सन्दर्भ में दोष बन जाते हैं। भीष्म भी युद्ध के पक्षपाती नहीं हैं किन्तु वे युद्ध की नियति की परीक्षा करते हुए कहना चाहते हैं कि समाज में जब तक विषमताएं हैं, जब तक दो वर्गों के सुखों और सुविधाओं में आकाश पाताल का अन्तर है, तब तक युद्ध की संभावना मिटायी नहीं जा सकती। भीष्म के माध्यम से कवि ने

आज के समाज के वैषम्य, विसंगति और भयानक विरूपता को उद्घाटित किया है। शांति तो सबसे बड़ी अशक्ति है समाज की, क्योंकि शोषक औरों का खून चूस कर उनसे कहता है कि शांत रहो। यह शांति बड़ी ही मानवघातिनी है। इसलिए युद्ध का समाधान एक ही तरीके से हो सकता है कि समाज में साम्य स्थापित कर दो या तो भेड़ियों के दांत तोड़ दो या फिर भेड़ों को भी विकराल दांत दे दो। भीष्म स्वप्न देखते हैं कि धर्मराज जैसे लोग यदि हैं तो एक दिन अवश्य आयेगा जब सच्चे अर्थों में शांति स्थापित होगी।

'कुरुक्षेत्र' केवल युद्ध काव्य ही नहीं है, युद्ध के प्रश्न के बहाने भीष्म ने आज के सामाजिक जीवन के अनेक प्रश्नों को, अनेक सत्यों को छुआ है। कवि ने मानवतावाद के स्वर को मुखर करते हुए उपेक्षितों के प्रति प्रेम और सहानुभूति तो व्यक्त की ही है उनके अधिकारों का जोरदार समर्थन भी किया है। इसलिए यह मानवतावाद केवल करुणा बन कर ही नहीं चुक जाता वह समता की स्थापना का स्वर ऊंचा करता है। अद्वैतवाद भी समता का समर्थक है किन्तु वह अन्तर्मुख है, व्यवहारिक नहीं। इसलिए कवि मार्क्सवादी दृष्टिकोण से समता स्थापित करना चाहता है जोकि ऐतिहासिक वातावरण के सत्य-निर्वाह के कारण मार्क्सवाद का कहीं नाम नहीं लिया है। वह बार-बार भीष्म के माध्यम से भाग्यवाद का विरोध और कर्मवाद का समर्थन करता है। कवि ने अपने युग की चेतना को पहचाना है। इतना ही नहीं, अपने विवेक से उसके मंगल-अमंगलकारी स्वरूप की ओर इंगित भी किया है। कवि ने मनोविज्ञान, समाजशास्त्र और मानवतावाद के आलोक में अनेक जीवन-प्रश्नों और मूल्यों को युद्ध और शांति के मुख्य प्रश्न के संदर्भ में आकलित किया है। मानव का बड़प्पन आज स्वतः निर्णीत नहीं है उसमें पाप और पुण्य की धूप-छाया जटिल रूप में बुनी हुई होती है। और सच बात तो यह है कि पाप की एक निरपेक्ष व्याख्या करना भी कठिन है। जहां आधुनिक काल ने समाजवाद, मानवतावाद जैसा मानव मंगलकारी व्यावहारिक दर्शन दिया, मनोविज्ञान जैसी मानव पारखी दृष्टि दी, वहां उसने बुद्धिवाद का अतिरेक, भौतिक सुखों की असीम स्पृहा देकर युद्धों का भयानक तनावपूर्ण वातावरण बना दिया। इसलिए दिनकर ने बुद्धिवाद का विरोध किया है। किन्तु यह अद्भुत विसंगति है कि समाजवाद का समर्थन करने वाला कवि बुद्धि का ही विरोध करने लगता है अर्थात् वह बुद्धि को एक विशेष प्रकार के राजनीतिक छल-छन्द में ही सीमित कर देता है।

कुरुक्षेत्र निस्संदेह हिन्दी का एक विशिष्ट ही नहीं, समृद्ध प्रबंध काव्य है। यह एक विचार-प्रधान प्रबन्ध काव्य है जिसमें कवि ने महाभारत का एक प्रसंग लेकर आधुनिक जीवन के सन्दर्भ में कुछ बुनियादी प्रश्नों पर विचार किया है। कवि ने कहा है कुरुक्षेत्र

में एक साधारण मनुष्य का शंकाकुल हृदय ही है जो मस्तिक के स्तर पर चढ़ कर बोलता रहा है। जाहिर है कि कवि वर्तमान परिस्थितियों में साधारण मनुष्य की भांति शंकाकुल है, उसके भीतर संकल्प-विकल्प का द्वन्द्व है और साथ ही अनेक प्रश्न संक्रान्त रूप में उभरते हैं जो हृदय को अपने ढंग से, बुद्धि को अपने ढंग से प्रतिक्रियायित करते हैं और दोनों की प्रतिक्रियाएं टकराती हुई उलझ जाती हैं। कवि का शंकाकुल हृदय युधिष्ठिर के माध्यम से और मस्तिष्क भीष्म के माध्यम से व्यक्त हुआ है। प्रबन्ध में ये दो अलग अलग पात्र हैं किन्तु सर्जक के भीतर एक ही व्यक्तित्व के दो पक्ष हैं। यदि एक ही पात्र दोनों स्थितियों से संकल्पों-विकल्पों से गुजरता तो कविता का द्वन्द्व हृदय और मस्तिष्क का संघर्ष कुछ और होता उसका प्रभाव और भी गहरा और संक्रान्त होता, यहां तो वह साफ साफ दो पात्रों में बंट गया है, दोनों ही पात्र विकल्प से परे हैं। इसलिए यह तो कहा जा सकता है कि कुरुक्षेत्र में भाव और चिन्तन का गुंफन तो है, किन्तु संग्रथन नहीं।

इस विचारप्रधान प्रबन्ध काव्य में चरित्र, वस्तु, प्रकृति आदि के क्रमिक विकास और वैविध्य का अभाव होना स्वाभाविक है किन्तु चिन्तन और संवाद के क्रम में अनेक जीवन संदर्भ उभर कर कविता को एकरस बनाये रखने से बचाते हैं। प्रश्न हो सकता है कि चिन्तन मात्र क्या कविता हो सकता है? नहीं, किन्तु कुरुक्षेत्र का चिन्तन हार्दिक आवेगों, जीवंत जीवन-संदर्भों और अनेक मार्मिक स्मृति चित्रों से जुड़ा होने के कारण अपना एक अलग ही प्रभाव छोड़ता है। यों रसवादी पाठकों के लिए धर्मराज का अन्तर्मंथन तो स्पष्ट रूप से कविता-प्रतीत होगा ही, चिन्तनशील भीष्म के भावुक क्षणों का बार बार घिराव भी उन्हें घेरेगा किन्तु ये सब मिल कर शेष वस्तु को भी काव्य का ही रूप देते हैं। चिन्तन अपनी प्रकृति में गतिशील, संक्रान्त और नवीन है, उपदेश या आत्मचिन्तन के रूप में न होकर संवादात्मक है तथा जीवंत ताजे बिम्बों के जरिए मूर्त हुआ है इसलिए उसमें एक सद्यता और काव्यात्मकता है। कवि ने धर्मराज और भीष्म की मनस्थितियों के अनुसार ही सरल जटिल बिम्बों की रचना की है।

संशय की एक रात

'संशय की एक रात' में भी यही प्रश्न उठाया गया है। राम या तो ईश्वर रहे हैं या चिरंतन गुणों से भूषित महापुरुष। इसलिए रामकाव्यों में राम के दृढ़ संकल्प और अटूट निर्णयों को ही लिया गया है। उनके भीतर उठने वाले संशय, विकल्प या द्वन्द्व की तड़प को नहीं व्यक्त किया गया है, जबकि उनके जीवन में निर्णय-अनिर्णय के द्वन्द्व के अनेक गहन प्रसंग भरे पड़े हैं। नरेश मेहता ने राम के जीवन के एक ऐसे ही संशयग्रस्त प्रसंग को सामने लाकर युद्ध के कुछ प्रश्न उभारे हैं। युद्ध की तैयारी हो गयी

है, पुल बंध चुका है, सेनाएं सुबह प्रयाण करने वाली हैं। यह स्वाभाविक था कि प्रज्ञा पुरुष राम के मन में यह आंधी आती कि वे युद्ध करें या न करें। युद्ध ! भयंकर नर-संहार, विषाक्त उत्तर प्रभाव, ओह, सब किस लिए ? केवल राम के लिए, एक व्यक्ति के लिए ? केवल एक व्यक्ति की पत्नी की प्राप्ति के लिए अनंत नारियों का वैधव्य ? ओह, यह नहीं होगा ? युद्ध नहीं होगा। राम अपने माथे युद्ध का यह कलंक नहीं लगायेंगे। लेकिन राम क्या केवल व्यक्ति हैं ! क्या सचमुच ही यह युद्ध केवल सीता के लिए हो रहा है ? राम के आसपास घिर कर सारे पार्षद सोचते हैं। उसके पहले ही पिता की आत्मा एक दार्शनिक धरातल पर राम को युद्ध करने के लिए प्रेरित कर चुकी है—

पुत्र मेरे
संशय या शंका नहीं
कर्म ही उत्तर है
यश जिसकी छाया है
उस कर्म को वरो।

....

सृष्टियां
गुण-धर्म हैं
किसी के प्रश्न का उत्तर नहीं

और हनुमान सामान्य जन के प्रतिनिधि के रूप में युद्ध की अनिवार्यता का समर्थन करते हुए कहते हैं—

हम साधारण जन
युद्ध प्रिय थे कभी नहीं
और न लंका युद्ध लड़ेंगे
युद्ध भाव से
महाराज !
साम्राज्य-वृत्ति के द्वारा
हम साधारण जन
अर्ध संभव कर दिये गये

....

हे रघुकुल तिलक।
हमारा यह सुन्दर दक्षिण प्रदेश

रावण
या अन्य किसी का
उपनिवेश हो
यह स्वीकार नहीं अब
किसी मूल्य पर

अर्थात् सारे पार्षद राम के व्यक्तिगत विकल्प के विरुद्ध यह सामाजिक संकल्प बार बार दुहराते हैं कि यह युद्ध व्यक्तिगत नहीं है, सामाजिक है और किसी का स्वत्व छीनने के लिए नहीं है, सामाजिक स्वत्व की रक्षा के लिए है। फिर भी राम उसे स्वीकार नहीं करते और कहते हैं कि चाहे जो हो इस चक्र का कहीं अन्त नहीं है। संभव है इस युद्ध के प्रतिकार में फिर दूसरा युद्ध हो, जो सेतु हमने बांधा है शांति की स्थापना के लिए, उसी से भविष्य में लंका की आक्रमणकारिणी सेनाएं नये उपनिवेश की खोज में निकलें ...फिर शांति कहां, शांति कहां ?

राम के इस प्रश्न का बहुत मार्मिक उत्तर देते हैं लक्ष्मण—

प्रभु ! क्षमा करें मेरे इस भाव को।
क्या इस प्रश्न के
हम ही अन्तिम निर्णायक हैं ?
क्या हम ही अन्तिम मानवता हैं।

और अंत में सामाजिक निर्णय राम को मानना ही पड़ना हैं कि युद्ध एक भिन्न प्रकार की परिस्थिति से जुड़कर एक मूल्य बन जाता है, जिसके सामने एक व्यक्ति का निष्क्रिय शांति-स्वप्न, मूल्य-कल्पना मिथ्या पड़ जाती है। इसलिए राम को कहना पड़ता है—

अब में निर्णय हूं
सब का
अपना नहीं
....
कवचित कर्म हूँ
प्रतिश्रुत युद्ध हूँ
निर्णय हूँ सबका
सब के लिए।

'संशय की एक रात' में चिन्तन और अनुभूति का बहुत घनत्व भले ही न हो किन्तु उसका प्रवाह तो है और प्रवाह यदि इतना न फैलता तो घनत्व का अभाव न होता। फिर भी कवि ने एक परिचित प्रसंग को नयी अर्थवत्ता दी है और उसे युग संदर्भ से जोड़ा है। अनुभवों के बहुत ताजे बिम्ब चिन्तन को प्राण देते चलते हैं और चिन्तन अनुभवों को दृष्टि प्रदान करता है—दशरथ और जटायु की आत्माओं से राम का संलाप कथ्य में नयी भंगिमा भरता है और इस प्रकार संशय की एक रात का चिन्तन एक ओर लक्ष्मण हनुमान आदि के सामाजिक संदर्भ से जुड़ जाता है दूसरी ओर देह मुक्त आत्माओं के आध्यात्मिक संदर्भ से और दोनों संदर्भ अपने अपने ढंग से राम के व्यक्तिगत निर्णय से लड़ते हैं और एक तनाव पैदा करते हैं।

अंधा युग

'अंधायुग' नयी कविता की बहुचर्चित और बहुत सशक्त कृति है। कवि ने महाभारत की कथा को लेकर आज के जीवन की गहन विसंगतियों, भयानक टूटन-विघटन, मूल्य-विच्छिन्नता, त्रास और द्वन्द्व को चित्रित किया है। 'महाभारत' अपने आप में आधुनिक काल की द्वन्द्वात्मक प्रकृति को व्यक्त करने में समर्थ है किन्तु कवि ने इस युद्ध की ख्यात घटनाओं, प्रसंगों और पात्रों को लेकर उनका ऐतिहासिक निर्वाह करते हुए भी उनका नियोजन इस दृष्टिकोण से किया है कि वे अपने भीतर से समग्र-भाव से हमारे युग को ध्वनित करें, इसीलिए उसने कुछ तद्युगीन संदर्भों में सत्य दीखने वाले नये पात्रों और वस्तुओं की उद्‌भावनाएं भी की हैं। कवि की आधुनिक दृष्टि और आधुनिक संवेदना ने इतिहास की सारी सामग्री को, उसके सारे स्वर को समेट कर आधुनिक काल की ओर उन्मुख कर दिया है और पात्रों, प्रसंगों को उनकी ऐतिहासिक सच्चाइयों में अक्षुण्ण रखते हुए भी आधुनिक मनोविज्ञान और समाजशास्त्र के आलोक में कहीं उन्हें नयी व्याख्याएं दे दी हैं, कहीं उनके पारस्परिक विनियोजन में नवीनता ला दी है। कहीं भी लेखक ने इतिहास पर वर्तमान को लादे बिना इतिहास को वर्तमान के अनुकूल कर लिया है, इसीलिए महाभारत का युद्ध अपने अपने अन्धेयुग की स्थिति का परिचायक मात्र न रह कर एक प्रतीक भी बन गया है, आधुनिक युग के अंधेपन का प्रतीक।

कथा महाभारत युद्ध के अंतिम दिन से आरम्भ होती है। पुस्तक के प्रारंभ में तूर्यनाद के उपरान्त जो कथा गायन हुआ है, वह पुस्तक की मूल भूमि ही की ओर संकेत करता है। युद्ध युद्ध है उसमें चाहे कोई किसी भी कारण प्रविष्ट होता हो अन्त तक सत्य का निर्वाह नहीं कर पाता। इसलिए कथा गायन से यह स्वर उभरता है—दोनों

पक्षों ने मर्यादा तोड़ी है पांडवो ने कम कौरवों ने ज्यादा। इस युद्ध में दोनों पक्षों ने ही खोया ही खोया है, किसी को जय नहीं मिली। अन्धापन जीत गया, विवेक हार गया और जो कुछ सुन्दर था, शुभ था, कोमल था, वह पराजित हो गया।

पूरे युग पर अन्धे ने शासन किया। धृतराष्ट्र अन्धे हैं, उनकी ममता ने विवेक को पराजित कर दिया है इसलिए वे कुछ भी नहीं देख पाते—

देखेंगे कैसे वे ?
अन्धे हैं।
कुछ भी क्या देख सके
अब तक
वे !

जो आशंका सबको पहले हिला गयी थी, उससे अंधे शासक धृतराष्ट्र बेखबर थे। युग का शासक अन्धा था इसलिए भीष्म, विदुर, कृष्ण के रूप में प्रज्ञा, विवेक, मूल्य, मर्यादा उससे टकरा टकरा कर लौट जाते थे और वह अंधा शासक अपनी अन्धी ममता के वशीभूत होकर अपने स्वार्थ को अपने पुत्रों के रूप में शह दे रहा था क्योंकि वह बाहरी यथार्थ या सामाजिक मर्यादा को ग्रहण नहीं कर सका था, उसे वास्तविक संसार का बोध नहीं था—

पर वह संसार
स्वतः मेरे अन्धेपन से उपजा था।
मैंने अपने ही वैयक्तिक संवेदन से जो जाना था
केवल उतना ही था मेरे लिए वस्तु जगत्

और आज भी विवेक से नहीं, अपने विनाश से बाहरी यथार्थ-जगत का बोध उसे हुआ है, इसलिए यह बोध, यह ज्ञान उसे दृढ़ता देने के स्थान पर भय प्रदान कर रहा है। एक बड़ी विडंबना यह है कि भविष्य भी याचक बन कर अन्धों की, असत्य की जय बोलता है। वास्तव में वृद्ध याचक कवि की एक कल्पना है यह और कोई नहीं कौरवों के भीतर से उपजा हुआ भावी स्वप्न है जो द्वन्द्व में, लड़ाई में, उनकी विजय देखता था लेकिन कौरव हार गए उनका भविष्य, उनका भावी स्वप्न जीर्ण याचक सा असत्य सिद्ध होकर उन तक ही लौट आया और फिर यहां वहां मारा मारा फिर रहा है। इस भविष्य ने अपने को वर्तमान से काट कर देखा, स्वप्न ने अपने को यथार्थ से विच्छिन्न करके देखा इसलिए उसकी वाणी मिथ्या सिद्ध हुई, वह स्वयं कहता है—

जब कोई भी मनुष्य
अनासक्त होकर चुनौती देता है इतिहास को

उस दिन नक्षत्रों की दिशा बदल जाती है
नियति नहीं है पूर्व निर्धारित
उसको हर क्षण मानव-निर्णय बनाता मिटाता है।

कृष्ण ने अनासक्त होकर इतिहास को चुनौती दी थी इसलिए उन्हों ने पूर्व निर्धारित नियति को बदल दिया। कवि ने आधुनिक समाज शास्त्रीय चिन्तन और मानव-जिजीविषा को यहां स्वर दिया है। वर्तमान की सही पहचान, यथार्थ की तीखी चेतना ही जीवन को अर्थ देती है, नहीं तो भविष्य का कोई मूल्य नहीं होता। याचक भविष्य के शब्दों में कौरव नगरी में अनेक झूठे स्वप्न टूटे हुए पड़े हैं जो माता गांधारी की अंधी ममता में पल रहे हैं। आधुनिक काल में भी अंधी ममताओं, स्वार्थांध-अपनेपन के परदे में यहां से वहां तक टूटे गलित स्वप्न बिखरे हुए हैं।

संजय तटस्थ निर्भीक विवेक शील शिल्पी का प्रतीक है। किन्तु अन्धों की नगरी में वह भी भटक गया है।

वह संजय भी
इस मोह-निशा से घिर कर
है भटक रहा
जाने किस कंटक पथ पर

उसे व्यास ने वरदान दिया है कि—

हर संकट, युद्ध, महानाश, प्रलय, विप्लव के बावजूद
शेष बचोगे तुम संजय
सत्य कहने को

वास्तव में यह वरदान नहीं शाप है। एक अनवरत मानसिक यातना है जो कवि को मिली है। उसे हर परिस्थिति में सत्य कहना है, सत्य किससे ? अन्धों से ? संजय अश्वत्थामा के पंजों में कसा हुआ मृत्यु की कामना करता है—

कह दो वह
जाकर अन्धों से
सत्य कहने की
मर्मान्तिक पीड़ा है जो
उससे तो वध ज्यादा सुखमय है
वध करके

मुक्त मुझे कर दो
अश्वत्थामा ।

आधुनिक युग में भी अंधों से सत्य शब्द कहने की यातना कवि की यातना है। युद्ध के मूल कारणों की विवेचना करना या राष्ट्रीय-अराष्ट्रीय संघर्षों की योजना करना प्रस्तुत कृति का लक्ष्य नहीं है। प्रस्तुत कृति में कवि ने मुख्यतः युद्धोत्तर समाज की सारी टूटन, पराजय, प्रतिशोध, छटपटाहट, विकृति, सड़ांध, यातना, असहयता का चित्र खींचा है किन्तु प्रकारांतर से युद्ध के एक सार्वजनीन कारण की ओर संकेत किया है और वह कारण है शासक की अंधी ममता का अतिरेक जिसके वशीभूत होकर वह सामाजिक यथार्थ की उपेक्षा करता है। इसके साथ ही कवि ने युद्ध की प्रक्रिया में दोनों ही पक्षों में उभरने वाली असत्य शक्तियों का उल्लेख किया है। किन्तु जैसा मैंने कहा कि इसमें मूलतः युद्धोपरांत फैलने वाले भयानक अवसाद, अंधकार और यातना का बड़ा गहन चित्रण हुआ है। हर पात्र कहीं न कहीं टूटा हुआ है, अपने रास्ते से छूटा हुआ है। अश्वत्थामा पिता के प्रतिशोध के लिए उत्तरा के पुत्र पर ब्रह्मास्त्र फेंकता है। न चाहते हुए भी कृतवर्मा और कृपाचार्य उसका साथ देते हैं संजय की दिव्य दृष्टि छिन जाती है और वह तड़पता हुआ कहता है—

व्यास ! क्यों मुझको दिव्य दृष्टि दी थी
थोड़ी सी अवधि के लिए
आज से कभी भी इस सीमित दृश्य जगत से
मैं तृप्ति नहीं पाऊंगा
सीमाएं तोड़ कर अनन्त में समाहित होने को
प्यासी मेरी आत्मा रहेगी सदा ।

गांधारी पीड़ा विकल होकर कृष्ण को शाप देती है फिर आत्मग्लानि से रोती है। अश्वत्थामा अमर रह कर सड़ांध भोगने के लिए श्राप-ग्रस्त होता है। फिर वह आत्मग्लानि करता है और व्याध के हाथों कृष्ण वध होता है। यहां से वहां तक प्रतिहिंसा और आत्मग्लानि, क्रोध और वेदना, प्रकाश और अंधकार के गहरे द्वन्द्व का प्रसार है मानव-मूल्यों की टूटन, बुझते हुए प्रकाश की छटपटाहट का बड़ा तीखा बोध उभरता है। युयुत्सु सत्य की ट्रेजेडी का जीता जागता रूप है। वह अंधे धृतराष्ट्र का पुत्र है किन्तु वह ज्योतिवृत्त में रहना चाहता था इसलिए उसने अंधों का नहीं पांडवों का पक्ष लिया। किन्तु उसे क्या मिलता है ? चारों ओर से उपेक्षा-मां बाप से उपेक्षा, पांडवों से उपेक्षा, प्रजा से उपेक्षा। और जिस कृष्ण में उसे अटूट विश्वास होता है वे शापग्रस्त हो जाते

हैं। चारों ओर के इस भयानक अपमान और अनास्था से ऊब कर युयुत्सु आत्महत्या कर लेता है।

युद्धोपरान्त प्राप्त होने वाली विजय कितनी श्रीहीन है—ब्रह्मास्त्रों से झुलसी हुई धरती हरी भरी हो आयी है युधिष्ठिर का अभिषेक भी हो गया है किन्तु कौरव नगरी अपनी खोई हुई शोभा नहीं प्राप्त कर सकी है—

सब विजयी थे लेकिन सब थे विश्वास ध्वस्त
थे सूत्राधार खुद कृष्ण किन्तु वे शाप ग्रस्त
इस तरह पांडव-राज्य हुआ आरंभ, पुण्यहत, अस्त-व्यस्त
....
थे एक युधिष्ठिर
जिनके चिन्तत माथे पर
थे लदे हुए भावी विकृत युग के सपने
....
सीढ़ी पर बैठे घुटनों पर माथा रक्खे
अक्सर डूबे रहते थे निष्फल चिन्तन में
देखा करते थे सूनी-सूनी आंखों से
बाहर फैले-फैले निस्तब्ध तिमिर घन में

इस अवसाद को और घना कर जाती है प्रभु की मृत्यु। किन्तु वह मृत्यु एक व्यक्ति की नहीं है, उसकी है जो सबकी पीड़ाएं, सबका दायित्व अपने भीतर वहन करता रहा है। गान्धारी के पुत्रों को मरवा कर भी वह गान्धारी का पुत्र है, अश्वत्थामा को शाप देकर स्वयं उसकी वेदना को भोगता है इसीलिए तो गान्धारी से कृष्ण ने कहा—

प्रभु हूं या परात्पर
पर पुत्र हूं तुम्हारा तुम माता हो।
मैंने अर्जुन से कहा
सारे तुम्हारे कर्मों का पाप-पुण्य, योग क्षेम मैं
वहन करूंगा अपने कंधों पर
अट्ठारह दिनों के इस भीषण संग्राम में
कोई नहीं केवल मैं ही मरा हूँ करोड़ों बार
अश्वत्थामा के अंगों से
रक्त, पीप, स्वेद बन कर बहूँगा
में ही युग युगान्तर तक।

इसलिए सब के दायित्वों और वेदनाओं को लेकर मरने वाले कृष्ण वास्तव में मरते नहीं। वे सबके भीतर अपना भी दायित्व छोड़ जाते हैं—ज्योति का दायित्व, आस्था का दायित्व। प्रभु के मरने के बाद भी अंधे युग (जो केवल द्वापर में ही समाप्त न होकर आज तक फैला है) उनके दायित्व की अनुभूति से भरा हुआ हमारे मन का एक अंश हमें अर्द्ध सत्य, ब्रह्मास्त्रों के भय, पराजय, टूटन, आत्महत्या से बचाता रहेगा।



● हरिकृष्ण कौल

नाज़नीन के हिन्दुस्तानी झुमके और दुष्ट किसान ●

(उन्नीसवीं शती की कश्मीरी कविता में नया स्वर)

सन् १८१६ ई० में महाराजा रणजीतसिंह ने कश्मीर पर आक्रमण करके लगभग ५०० वर्ष के मुस्लिम शासन का अंत कर दिया। अब तक कश्मीर का राजनीतिक और सांस्कृतिक सम्बंध ईरान और काबुल से ही था। अब यह सम्बंध पंजाब और उत्तरी भारत के अन्य प्रांतों के साथ भी जुड़ गया। भारत उस समय पाश्चात्य संस्कृति और जीवन-प्रणाली से प्रभावित हो रहा था। अतः इस राजनीतिक सम्बध के कारण कश्मीर का भी इस प्रभाव की लपेट में आना स्वाभाविक था। यहां के सामाजिक जीवन में भी धीरे-धीरे एक परिवर्तन आने लगा। बदलता हुआ परिवेश तत्कालीन कवि को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से प्रभावित किए बिना कैसे रह सकता था! परिणामस्वरूप १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही कश्मीरी कविता में एक नया स्वर सुनाई देता है। रसूल मीर अपने प्रियतम के आने की राह देखते हुए कहता है :—

"कम न्यामच ख्यावनावन, च्यावनावन चाय"

(यदि वह आता) मैं उसे नाना प्रकार के व्यंजन खिलाता, चाय पिलाता!

ध्यान देने की बात है कि शराब का स्थान यहां पर चाय ने ले लिया है। ऐसा ही महमूद गामी का भी एक 'शे'र' है :—

"च्यतो चीं प्यालन चाय, छम तो माय मशान चा'नि ।"

आश्रो, और चीनी के प्यालों में चाय पियो। मुझसे तुम्हारा प्रेम भुलाया नहीं जा सकता।

शराब का स्थान तो चाय ने लिया ही था यहां जाम-ए-जमर्द भी चीनी की प्याली में बदल गया है। इसी प्रसंग में १९वीं शती की दो अन्य कश्मीरी कविताओं के कुछ अंश यहां उद्धृत किए जाते हैं:—

नाज़नीनि पायन ताज़ गुरगाबी
कन' दूर ह्यं दुस्तानी ये ।
तास त' अतलास खास पंजाबी ।

—उस कोमलांगी के पांव में ताजा (नये फैशन के) गुरगाबी (जूते) हैं। कानों में हिन्दुस्तानी झुमके हैं। उसने अतलास के कपड़े पहन रखे हैं, जिनकी सिलाई खास पंजाबी ढंग की है।

बादाम जैसी आंखों और सुराहीदार गर्दन वाली, कवियों के मन में बसने वाली परम्परागत प्रेमिका को यह 'बानक' कुछ मौलिक और यथार्थ के अधिक निकट है। दूसरी कविता के कुछ अंश यों हैं—

म्य ज़ा'जिम लोल नारन तन
थवान छुम न' म्य अरज़न कन।
दिमस अरज़ी ब' सरकारस
च' यारस वनत' है व्यसिये ॥

जजस ब्रोंठ कनि खड़ा थावन
स्य बार कलिम' ब' परनावन।
ब हरगिज़ वो न्य न सा प्रारस
च' पारस वनत है व्यसिये ॥

वकीलन अथि जराह दावस
अपंजि बादे ब' मश्यरावस ।
ल्यखित ह्यावस ब' इकरारस
च' यारस वनत है व्यसिये ॥

—"प्रेमाग्नि ने मेरा शरीर जला डाला। वह मेरी विनती की ओर ध्यान नहीं देता है। मैं इस विषय में अब सरकार को अर्ज़ी दूंगी। री सखि, तू मेरे प्रिय से यह बात कह।

मैं उसे जज के सामने खड़ा करके तीन बार कलमा पढ़ाऊंगी। मैं किसी भी सूरत अब प्रतीक्षा नहीं कर सकती। री सखि, तू मेरे प्रिय से यह बात कह।

मैं वकीलों द्वारा उस पर जिरह कराऊंगी। ताकि वह झूठे वादे देने से बाज़ आये। मैं लिखित रूप में उससे सारी बातों का जवाब तलब करूंगी। री सखि, तू मेरे प्रिय से यह बात कह।"

जज, वकील, जिरह आदि शब्दों का प्रयोग कविता में कदाचित हास्य का पुट देने के लिए ही किया गया है। किन्तु क्या इससे कवि पर बदलते हुए परिवेश का प्रभाव लक्षित नहीं होता है?

मक़बूल शाह क्रालवारी की कविता में हमें विशेष रूप से एक नया स्वर मिलता है। आधुनिक कश्मीरी कविता का बीज भी यहीं खोजा जा सकता है। मक़बूल शाह क्रालवारी का जन्म सन् १८२० में हुआ और बीस वर्ष की आयु से वह कश्मीरी में कविता लिखने लगा। मकबूल की प्रारंभिक कविताओं में कोई खास बात नहीं है। पूर्ववर्त्ती कवियों का अनुसरण करते हुए कवि ने नाज़नीनों के हाव-भाव का चित्रण किया है, नख शिख वर्णन किया है, गुल व बुलबुल के विरह की दास्तान को दोहराया है। मक़बूल के समय में साधारण कश्मीरी जनता की दशा बहुत ही शोचनीय थी। शोचनीय तो पहले भी थी किन्तु तब जनता अत्याचारों को दैवी प्रकोप समझ कर उनके आगे चुपचाप सिर झुकाने की आदी हो गई थी। पर नवीन सभ्यता के सम्पर्क में आने से लोगों की यह आस्था उतनी अडिग नहीं रही थी। वे समझने लगे थे कि यह दैवी प्रकोप नहीं, कुछ और है। सम्भवतः जनता की इस दुरावस्था के कारण ही मक़बूल की कविता में वेदना का स्वर मुखर हो उठा, जिसे प्रसिद्ध कश्मीरी कवि आज़ाद ने 'दर्द-ए-मक़बूल' का नाम दिया है। किन्तु इस दर्द को वह कहीं विरह पीड़ा की आड़ मे व्यक्त करता है। कभी संसार की नश्वरता का रोना रोकर सूफियों की सी बातें करने लगता है। मक़बूल के काव्य की यह विशेषता अपने में महत्वपूर्ण होते हुए भी आधुनिक कश्मीरी कविता की पूर्व-पीठिका को समझने में अधिक सहायक नहीं हो सकती। आधुनिक कविता के संदर्भ में इस कवि का ज़िक्र केवल उसकी एक दो रचनाओं के कारण हो सकता है। ये रचनाएं वास्तव में 'हजू' (व्यंग्य) हैं और इनमें, कश्मीरी कविता के इतिहास में पहली बार, सामाजिक विसंगतियों को

रेखांकित करने का प्रयत्न किया गया है। 'ग्रीस्त नामा' (किसान-गाथा) इस प्रकार की एक प्रमुख रचना है।

गुलाम मुहम्मद, नूर मुहम्मद द्वारा प्रकाशित 'ग्रीस्त नामा' के मुख-पृष्ठ पर ये शब्द लिखे मिलते हैं—"ग्रीस्त-नामा......जिसमें फ़ाजिल मुसनिफ़ (विद्वान लेखक) ने पस्त फ़ितरत दहकानों के (नीच स्वभाव के किसानों की) अख़लाकी व माशरती हालात (नैतिक और सामाजिक दशा) मंजरे-आम (सर्व साधारण के सम्मुख) लाकर उनको संवारने की कोशिश फरमाई है।" शहज़ादी नोशलब और अजब मलिक के अजीब-व-गरीब इश्क़ की दास्तान बयान करने वाले गुलरेज़कार मक़बूल को 'नीच स्वभाव' के किसानों की नैतिक और सामाजिक दशा सर्वसाधारण के सम्मुख लाने की आवश्यकता क्यों पड़ी, इसके पीछे भी एक कहानी है।

मक़बूल शाह क्रालवारी को अपने पूर्वजों से उत्तराधिकार में 'पीर' का पेशा मिला था। उसके पूर्वजों के समय 'पीर' का पद मामूली नहीं था। अल्लाह और पैगम्बर के बाद किसानों के सामने सम्भवतः पीर का ही स्थान था। किन्तु मक़बूल के समय में पीर का वैसा आदर नहीं रहा था। और तो और, पीर साहब के लिए अब किसानों से भेंट चढ़ावे प्राप्त करना भी मुश्किल हो गया था। अतः पीर मक़बूल शाह का क्रुद्ध होकर किसानों पर इस प्रकार बरस पड़ना स्वाभविक ही है :—

"न ज़ानन दीन न इस्लाम दहकान
न छयक इनसा नियत अकसर छि हैवान।"

—किसान न तो दीन को जानते हैं और न यह जानते हैं कि इस्लाम क्या है। उनमें इनसानियत भी नहीं है। वे हैवान हैं।

और यह शायद इसलिए कि :—

"इयक थलि दूरि पीर डेशनस दाम
न्यबर आ'सित अचन गानस अन्दर ताम।
....
अच्यख पीर आंगनस अन्दर स्युदुइ स्यु'द।
दपान छिस शुरि छिन यति' बब त द्यद।
गोमुत वय छांडिनि बब, द्यद गमच् वन।
बबन सुबयहस दप्यानस जिन्थ ग्यड़ा अन।
इय दोह वोनि आसनस वय ख्यव सिनुइ योत।

बबस यव' बो'छि सी'त नान ब-लब बोत ।

....

मंगान ओस अज़ खो'दा गो'छ पीर वातुन
ब'मंगहस प्रानवारा छुस न्यथ' नो'न
जवाबा ख्यत छि पीरस आरा सोरान ।
को'रुम क्यह ? आस को'त नाहक़ ब दोरान ।"

—जब वे (किसान) दूर से ही पीर को आता देखते हैं तो झट घर के भीतर बनाई गई गोशाला में छिप जाते हैं। ....पीर सीधा ही उनके आंगन में प्रवेश करता है पर बच्चे उससे कहते हैं कि उनके मां बाप वहां नहीं हैं। बाप अन्न की तलाश में कहीं गया है और मां वन चली गई है। बाबा ने सुबह उससे लकड़ियों का गट्ठा लाने के लिए कहा था। छः दिन पहले ही हमारे यहां अन्न खत्म हो गया है और अब हम सब्ज़ी खाकर ही गुज़ारा करते हैं। भूख से बाबा के प्राण होंठों तक आगये। ....बाबा खुदा से मांगता था कि काश पीर आजाता और वह उससे कोई पुराना कपड़ा मांगता। क्योंकि उसकी देह बिल्कुल नंगी है। ये बातें सुन कर पीर की आशा निराशा में बदल जाती है और वह सोचने लगता है--हाय, मैंने यह क्या किया ? मैं व्यर्थ ही यहाँ दौड़ा दौड़ा क्यों आया ?

किन्तु इन्हीं किसानों के पास जब सज़ावुल (लगान वसूल करने वाला सरकारी कर्मचारी) जाता है, उनका व्यवहार बदल जाता है। देखिए :--

"सज़ावुल यो'द यियख तस ब्रोंठ' नेरत
दिनस दो'ग म'ठ न' प्यठ' कनि जाय शेरन ।
गंडिथ गुलि रोज़नस फरमांबरदार ।
पथर वस गरि साथा बेह मसा' मार ।

....

सलामि सुबहसी, वातान छि सारी ।
करान छिस सा'री ब्यो'न ब्यो'न अजज़ोज़ारी ॥
निवान छिस पेशकश व्यठ व्यठ को'कर पूत्ति ।
ह्यवान वो'डि प्यठ तुलिथ फखरन तिहंद जूत ॥

—यदि सज़ावुल आ जाय तो किसान उसका स्वागत करने के लिए घरों से निकल पड़ते हैं। उसके पाँव दबाते हैं और ऊंची जगह आसन बिछाकर उसका सम्मान करते हैं। हाथ जोड़ कर वे उसके सामने खड़े होजाते हैं और निवेदन करते हैं--"आप

घोड़े से उतरकर और थोड़ी देर के लिए यहां बैठ कर हमें अनुग्रहित करें।"......... वे सुबह सवेरे ही सलाम अर्ज़ करने के लिए उसके पास जाते हैं। प्रत्येक उसके सामने अपना अपना दुखड़ा रोता है। वे उसे मोटे मोटे मुर्गे भेंट करते हैं। यदि सज़ावुल उन पर जूते बरसाये तो वे इस पर भी गर्व करेंगे।

सज़ावुल किसानों से सीधे मुंह बात नहीं करता है। वह उन्हें चाबुक से पीटता है, लातों से मारता है। मगर किसान उससे यही कहते हैं :--

यि गव बत' च्युन च् नाहक गछ् म' बेज़ार।
तिमन कोठन छि खलत चा'नि पैज़ार॥

—तुम हमें जब डांटते हो, हमें लगता है खाना खिलाते हो। तुम बेज़ार क्यों हो। जब तुम हम पर जूते बरसाते हो हमें लगता है कि कोई बादशाह खिलत पहना कर हमारी इज्जत बढ़ा रहा है।

'गीस्त नामा' में मक़बूल ने किसानों को पानी पी पी कर कोसा है और उन्हें 'गीस्त गान', 'खवीस' 'बदज़बान' 'इबलीस' आदि कहा है। कवि के अनुसार मुसलमान होने के बावजूद भी किसानों में इस्लाम के प्रति (या पीर के प्रति!) कोई आदर नहीं रहा था। कवि ने यह रचना किसानों को नंगा और बदनाम करने के लिए रची थी। किन्तु आज वह रचना पढ़कर पाठक के मन में उस बेचारे किसान के प्रति सहानुभूति ही पैदा होती है। किसान सज़ावुल से दबता है, उसकी खुशामद करता है। पर इसका कारण उसकी 'पस्त फितरत' नहीं, उसकी विवशता है। कवि ने दिखानी चाही है किसान की दुष्टता। किन्तु पाठक को दीखती है किसान की दरिद्रता, उसकी विवशता, उस पर किए जाने वाले सरकारी कर्मचारियों के अत्याचार। रहा कृषकों द्वारा पीर की उपेक्षा का प्रश्न। ज़ाहिर है कि साधारण जनता में धर्म और उसके एजेंटों में पहली जैसी आस्था नहीं रही थी। धर्म के पीछे अब शासन की तरह कोई शक्ति नहीं रही थी। इसीलिए किसान सज़ावुल की खुशामद करते हैं पर पीर से आँखें चुराते हैं। वास्तव में जहां कवि सज़ावुल और किसान के सम्बंधों की बात करता है, हमें बेचारे किसान पर दया आती है। और जहां पीर और किसान के सम्बधों की चर्चा करता है, हमें दोनों पर दया आती है। 'ग्रीस्त नामा' में पहली बार सामाजिक जीवन के यथार्थ चित्रण की झलक मिलती है। इस में मक़बूल के समय के कश्मीरी ग्राम, कृषकों की दशा, लगान वसूल करने के तरीके, ऋण की समस्या और किसानों के हथकंडे, गाँव के पर्व त्यौहार, अनाज काटने के समय का हर्ष और उत्सव, सामाजिक सम्बंध आदि की विशद चर्चा मिलती है। इसी कारण कलात्मकता

के अभाव के बावजूद यह रचना ऐतिहासिक महत्व रखती है

उन्नीसवीं शती के एक अन्य कवि वाहबपरे की रचनाओं में भी यह नया स्वर मिलता है। 'दरवेशी' 'सैलाब नामा' और 'बेबूज नामा' साक्षी हैं कि बदलते हुए परिवेश से वाहब परे भी प्रभावित हुआ था।



चम्बे दिए धारे !
बिन्द नीठड़ी होएयां
रोआरें मेरे सौरिये
ते पारें मेरे प्योकिये
बिन्द नीठड़ी होएयां !
घा बड्डी-बड्डी करी पूलड़े बनान्दियेगी
अत्थुएं दे छाले दिक्खी-दिक्खी गान्दियेगी
दिक्खी लै भरा
बिन्दी नीठड़ी होएयां !
बोई ही तां डोलिये च पाई, भाइयें बिदा कीत्ती
दुद्धे नमेयां, पुत्तरें फलेयां, माबिया ने सीस दित्ती
माऊ मिगी दित्ते अत्थरूं
बिन्द नीठड़ी होएयां,
चम्बे दिये धारे !
बिन्द नीठड़ी होएयां।

पहाड़ी लोगों का मेहनती जीवन और उनके गीत साथ-साथ चलते हैं; घास काटते-काटते हाथ में छाले पड़ गये हैं और वधु को मायके की याद आ गई, अपने भाई को वह छाले दिखाना चाहती है, जब सुसराल आई थी तो सबने आशिष दी थी, मां ने आँसू रूपी मोती दिए थे; उनका मूल्यांकन कौन कर सकता है ! "चम्बे की धार तुम जरा झुक जाओ जिससे मैं पार अपने पीहर को देख लूं।"

—डोगरी लोक गीत

कश्मीरी कहानी

रतन लाल शांत

तृप्त और अतृप्त

कोई नई बात नहीं कहने जा रहा हूँ। और वह बात यह है कि बहुत देर तक कहानी न लिख पाँऊ तो जी किसी काम में नहीं लगता। पिछले रविवार को भी ऐसी ही बात हुई। एक दोस्त की फड़कती कहानी सुनी तो रहा न गया। सिर को तीन बार पीटा। सोचा कि संन्यास लिया जाए कहानी जगत से। निश्चय किया कि इस प्रभाव से मुक्ति पाने के लिए कहीं दूर जाना चाहिए जहां साहित्यिक गोष्ठियों की गिचपिच न हो। दो दिन की छुट्टी ली। बस में सवार हुए। जब गांधरबल की शांत हवाओं ने हमारा स्वागत् किया तो एक गहरी सांस ली। ईश्वर को धन्यावाद दिया कि एक बार पूरा छुटकारा मिले तो अपने गिर्द बनती कहानियों से आंखें मींच लेंगे और पक्का संन्यास लेंगे।

हम यह सब सोच रहे थे और कदम बढ़ाते जाते थे। खेतों में फसल काटी जा रही थी। कहीं किसान चुपचाप अपनी छेनियां चला रहे थे। और कहीं कृषक दम्पतियां समावार में से चाय उंडेल २ कर पी रही थीं। कहीं देखा कि पनचक्की के पास ही दो चार किनान बैठे हुक्का पी रहे हैं और धीरे धीरे बातें कर रहें हैं। कहीं किसानों की औरतें और लड़कियां शाली के कटे पौधों को गट्ठों में बांध कर उन्हें पांतों में रख रही हैं। इतना सुहाना दृश्य देखकर मैंने कहानीकार के अंदाज में सोचा कि यह सब तो हमारी शहरी जिन्दगी से सौ दर्जा बेहतर है। वास्तव में हम सभ्य शहरियों को गांव की सादगी से अभी बहुत सीखना है। हर शहरी के लिए गांव में एक वर्ष रहना अनिवार्य कर दिया जाए तो शायद स्वभावों की तीक्ष्णता और

विषमता से पैदा हुई समस्याएं जल्दी समाप्त हों। अपनी इस सूझ पर जाने मैं खुद ही क्यों हंसने लगा। शायद मेरे जैसे उकताए मूड वाला दूसरा कोई आदमी भी ऐसा ही सोचता।

मैं इसी सोच में डूबा जा रहा था कि ऊपर से गौरी भाभी की पुकार सुन कर रुक गया। होश में आ कर देखा कि मैं गंतव्य स्थान पर पहुँच चुका था।

"आ गए भाई साहिब ? बस पांच मिनट देर से पहुंचे आप। अभी तक बैठे थे। मैंने कहा कि जाकर अड्डे से तो उन्हें लिवा आओ लेकिन आप तो जानते ही हैं, आलसी हैं हद दर्जे के। कहते रहे यहीं इन्तजार करेंगे। आ तो यहीं जाएंगे। और इस तरह बैठे बैठे आध घंटे की देर कर दी। दफतर का ध्यान आया तो सिर पर पैर रख कर भागना पड़ा।"

एक ही सांस में यह सब कह कर गौरी भाभी चुप हुईं। मैं तब तक आगंन में ही खड़ा खड़ा सुनता रहा और उन के चुप होते ही यह कहता हुआ ऊपर आया कि "बस जरा देर से चल पड़ो वरन् पूरे साढ़े नौ यहां पहुँचना था।" यह कहकर मैं ऊपर गया। ऊपर आ कर देखा कि एक टूटी सी कुर्सी दरवाजे से बिल्कुल सटी रखी गई थी। शायद इस लिए कि दरवाजा बन्द न हो। चटाई पर कपड़े इधर उधर बिखरे पड़े थे। हुक्का बिल्कुल बीच में रखा था जिसके चिलम से राख और जली तम्बाकू गिर कर बिखर गई थी। छोटा 'निका' पास हो तबांकू की डिबिया से खेल रहा था। गौरी भाभी फिर कहने लगी—

"आप तो बस ईद के चाँद हो गए हैं। मुझे याद है आज आप बराबर चार माह बाद हमारे यहां आए हैं।"

"क्या बतांऊ भाभी ! शहर में तो आदमी फंस के ही रहता है। बहुत बार यहां आने और हफ्ता भर बिताने की योजनाएं बनाई लेकिन उस रोज रोज की मगजपच्ची से छुटकारा मिले तब न।" मैंने सफाई देते हुए कहा। इस पर गौरी भाभी हंसी रोकते हुए बोलीं,

"हमारा तबादला गांव में हुआ तो क्या हम गांव के होगए। सच मानो भाई साहब, जब से शहर के दोस्तों की संगति छिन गई है, ये बहुत आलसी बन गए हैं। तुम से क्या छिपाना शहर में चाहे सारा वक्त गंवा देते, तब भी उनकी आय से घर चलता था, खुद अच्छा खाते पहनते और मेरी सास और ननद भी तो थीं। यहां आए तो अपना पेट नहीं पलता, घर क्या भेजें।"

यह सुनकर मैं सोचने लगा कि मैंने यहां आकर बुरा ही किया। खैर, जो हो अब तो आ गया था। लेकिन एक बात जरूर हुई। थोड़ी देर पहले जो राहत मुझे गांव की सादगी के बारे में सोच कर मिली थी, वह जाती रही।

गौरी भाभी ने मुझे सोच में पड़ा देख कर कहा—

"आप के लिए मैं दूध गर्म किए देती हूं। इतनी देर में आप हाथ मुंह धो आइए, धूल से लथपथ हैं। ये बसें भी ठेल फेंक के भूर्ता बना देती हैं अंतड़ियों का। अगली सीट पर बैठो तो मारे पिट्रोल की दुर्गन्ध के जी मिचला जाए। बैठो पिछली सीट पर तो खाया पिया बाहर आ जाए। धूल खाइए—सट कर बैठिए या खड़े रहिये लेकिन किराया पाई कम न लेंगे। मुटा गए हैं यह ड्राइबर तो।"

मैंने हामी भरी और कहा—

"नहीं दूध नहीं चाहिए मुझे। खाली चाय पिलाइए।"

मैं रसोई वाली दीवार में लगी एक कील में कोट टांग रहा था तो देखा कि भाभी मेरे जवाब की अपेक्षा करके समावार में दूध ही डाल रही है।

कोट टांग कर मैं बैठने ही लगा था कि इसी मकान में सामने दूसरे कमरे के दरवाजे से गुणवती को निकलते देखा। मैंने उन्हें हाथ जोड़ कर नमस्ते की और उनके पास गया।

"अरे किशना! तुम यहां कैसे आन पड़े। खबर भी नहीं की। आओ, पार चलो। मैं तो तुम्हारी आवाज पहचान कर ही यहां आई। सोचा तुम तो खुद नहीं आए—चलो, मैं ही तुम्हें कान पकड़ कर खींच लाती हूं, अपने हाथों तो तुम्हें पाल चुकी हूं।" इतना कह कर गुणवती की आंखों में आंसू भर आए। मैं तो यह देख कर विस्मित हो रहा था कि एक ही मकान में दोनों भाइयों ने कमरा ले लिया है। गौरी भाभी के पति द्वारिका नाथ और गुणवती भाभी के पति बलजी दूर रिश्ते के भाई लगते हैं। और दोनों एक ही विभाग में मुलाजिम हैं। मैं, द्वारिका नाथ और बलजी लंगोटिए यार रहे हैं। बलजी उम्र में हम से छः सात साल बड़े होंगे लेकिन द्वारिका नाथ और मुझ में एकाध साल का ही अन्तर है। यह तो मैं जानता था कि द्वारिका नाथ का तबादला गांधरवल हुआ था पर बलजी के बारे में ऐसा नहीं सुना था।

इधर मैं सोच रहा था और उधर गुणवती भाभी कहे जा रही थी "हां भाई, तुम हम गरीबों के पास क्यों आओगे।" "नहीं भाभी, ऐसी बात नहीं। मैं तो हैरान हो रहा हूं यह देख कर कि आप यहीं रहने लगे हैं। भला आप लोग कब आए यहां।"

"महीना भर हो गया। शहर में इनकी तबीयत गिरने लगी तो डाक्टरी मशवरा लिया। यही तो जगह थी जहां तबादला भी होता और फिर जलवायु भी अनुकूल ही रहती। जभी तो खुद तबादला करवाया। मकान द्वारिका ने लिया ही था सो इसी में कमरा लिया। अलग मकान क्या करना था।"

मैंने गौरी भाभी की यह बात याद करके कि तबादला होने से उनको आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है, गुणवती भाभी से भी यह जिज्ञाका प्रकट की—

"अच्छा भाभी जी, कैसी कटती है यहां।"

गुणवती भाभी ने उत्साह से कहा—

"किशन भाई, सच पूछो तो शहर से बहुत अच्छी। बस एक कठिनाई है मेरे लिए—सौदा सुल्फ के लिए मुझे खुद बाज़ार जाना पड़ता है।"

मैंने उनकी बात का मखौल उड़ाते हुए कहा—"तो यह क्यों नहीं कहतीं आप, कि भाई साहब ने खज़ांची बना लिया है आपको।"

और इस पर हम दोनों ठहाका मारकर हंस पड़े। इतने में सामने के कमरे से गौरी भाभी की पुकार सुनाई दी। मैंने जाते हुए गुणवती भाभी से कहा—"अच्छा, भाभी चलता हूं। चाय बनी होगी। भला तेजकृष्ण को नहीं देखा। खेलता होगा।"

"हां, दिनभर खेलता रहता है।" इतना सुनकर मैं चल पड़ा। जा कर गौरी भाभी से चाय मांगी। उसने मेरे आते ही पूछा—"क्यों, बड़ी भाभी ने चाय नहीं पिलाई आपको?"

"नहीं छोटी भाभी", मैंने उसकी 'बड़ी भाभी' के स्वर में मज़ाक का अंश मिलाते हुए कहा—तुमने जो बना ली थी मेरे लिए।"

इस पर गौरी के होंठ व्यंग्य में फैल गए—"यह क्यों नहीं कहते आप कि उन्होंने पूछा तक नहीं। उनके पास धरा क्या है जो किसी अतिथि की आवभगत करें। अरे, हद दर्जे के कंजूस हैं वे तो। आप को यहां देख के जली होंगी तो अपने कमरे में खींच लिया। यहां भी बात कर सकती थीं और जब बुलाया तो चाय पीने के लिए भी कहतीं।"

मैंने देखा कि गौरी का व्यंग्य बढ़ रहा है। उसकी तीव्रता कम करने की गर्ज से मुझे झूठ ही कहना पड़ा—

"नहीं, मामी तुम गलत समझ रही हो। भला, इतनी देर के बाद मैं उससे मिला तो चाय पीने के लिए भी न कहती? बाजार से रोटी मंगवाने के लिए उन्होंने तेजकृष्ण को बुलाया था।"

इस पर वह जोर से हंस पड़ी और कहने लगी—"काहे को आप मामी की तरफदारी कर रहे हैं? उसने तेजकृष्ण को बुलाया कहां। आप ही ने तो उस के बारे में पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया कि खेलता होगा।"

यह सुन कर मैं भौंचक्का सा हो गया कि गौरी शायद दीवार से कान लगा कर मेरी बात सुन रही थी। मैं केवल चुप रहा और दूध पीने लगा।

थोड़ी देर चुप रह कर गौरी फिर कहने लगी—"मैंने कहा नहीं, ये दोनों पति पत्नी एक नम्बर कंजूस हैं। हद दर्जे के। पैसे को दांत से पकड़ते हैं।"

मैने विषय बदलना चाहा इसलिए कहा—"बलजी का तबादला कब हुआ?"

"हुआ क्या, खुद करा दिया इन्होंने। और फिर चैन से अलग बैठने भी कहां दिया। शहर में उनसे दस मकान की दूरी थी, उसको यहां पूरा कर लिया है। यहां आए ताकि हमारे हर काम पर निगाह रख सकें, इसलिए हाथ धोकर पीछे पड़े हैं। आखिर हमने ही कमरा उन को दे दिया था। कहीं और कमरा लेते तो किराया न देना पड़ता? यह नहीं सोचा कि हम भी किराया दे रहे हैं। इन्हें चाहिए था कि आधा किराया दिया करते। लेकिन उस का नाम नहीं ले रहे हैं। तुम्हारे भैया भी तो भोले और मस्तमौला हैं। मांग लेते। भई, मैं तो यह मानूं कि जहां पैसे का सवाल आ जाय वहां भाई-भाई में भी टके पाई का हिसाब होना चाहिए।"

मैं दूध पी चुका था। उसके बाद मैं देर तक गौरी मामी की बातें सुनता रहा। बातों का विषय था उनके पति द्वारिकानाथ की सुस्ती या फिर जेठ बलजी की कंजूसी।

मैंने न कोई प्रश्न ही किया न उनकी किसी बात पर गंभीरता से सोचा ही।

सिर्फ मैं चुपचाप सुनता रहा...सुनता रहा जब तक कि दोपहर के दो न बज गए। सोचा घूम आना चाहिए। घूमने चला लेकिन दिमाग पर अब तक गौरी मामी की बातें खुद गई थीं। मैंने देखा कि वे काफी बदल चुकी थीं। उनके एक बच्चा है—डेढ़ साल का होगा। घर पर ननद है गौरी की और सास......बस इतने से घर को

वह शहर में कितने संतोष से, कितने आत्मविश्वास के साथ संभालती। वहां भी द्वारिकानाथ के चाचा, ताऊ, चचेरे भाई इनके परिवार को, इनके मकान को घेरे हुए हैं। लेकिन वहां वह इतनी चेतन न रहती, इतनी चिंतित न रहती। अपना घर था, अपनी चिन्ता थी। मुझ से भी कभी कोई ऐसी बात न होती कि पैसा कम है या तनख्वाह पूरी नहीं पड़ती। यदि कम भी पड़ती तो भी उनके स्वभाव में ऐसी चिड़चिड़ाहट, उदासीनता न थी। और बलजी, उनके जेठ तो दूर, उन के मकान के सामने ही उनके छोटे देवर रहते थे। उनके बारे में मैंने एक शब्द भी इनके मुंह से न सुना। रहे बलजी – वे तो तब भी इन सब झंझटों से दूर थे और उनकी पत्नी गुणवती उनका प्रतिरूप ही थी।

इन ही सब विचारों में खोया-खोया मैं दिन भर घूमता रहा। और करीब पांच बजे लौटती बार रास्ते में बलजी से मुलाकात हुई। वे बड़े तपाक से मिले—

"ओहो किशन ! कहो भाई, कब आना हुआ।"

आज ही सवेरे आया। सोचा, चलो आप ने खबर न ली, यहां तबादला हुआ, कुछ मालूम ही न होने दिया, मैं ही हो आता हूं।"

"यह तो तुमने एक ही कही।" कह कर बलजी खूब जोर से हंस पड़े। मुझे शायद आज पहली बार दिखा कि बलजी के माथे पर लकीरें पड़ गई हैं जिनपर अनुभव, आयु और घटनाएं अपना निशान छोड़ गयी हैं। वे घटनाएं जिन से व्यक्तित्व बनते हैं— और वे कार्यक्रम जिन में ढल कर ही आदमी खुद एक क्रम बन जाता है

बलजी की गांधी टोपी के नीचे से रूखे अधपके बाल कांटों की तरह, सिर उठाए उलझ रहे थे। बिना इस्तरी किया हुआ लेकिन साफ कालर अपनी सामान्य स्थिति छोड़ कर मुड़ चुका था।

"हमने तो भैया यहां खुद तबादला करवा लिया। जब यार लोगों की महफिल न रही। वे दिन न रहे तो क्या शहर और क्या गांव।" यह कह कर बलजी थोड़ी देर के लिए चुप रहे शायद पिछले दिन याद कर रहे थे। मेरी पीठ पर हाथ भी फेरते जा रहे थे। फिर उन्होंने कहा—

"जो भी हो किशन ! दिल जिन्दा रहे तो कहीं भी रहो, मजे में रहो।" और फिर वे मेरी ओर गर्व से देखने लगे। मैंने देखा कि उनके बूढ़े से चेहरे पर संतोष झलक रहा था। मुझ से छः साल बड़े थे लेकिन वही दोस्ती थी जो बराबर की उम्र वालों में

हुआ करती है। थोड़ी देर बाद उन्होंने मुझ से फिर कहा—"यहां रुक क्यों गए। चलो न घर चलें।"

और मैं उनके साथ हो लिया। रास्ते भर वह मुझ से हंस-हंस के बोले। उनके दफतर में कैसे दिन भर गप्प—सटाका चलता रहता है, चपरासियों के स्वभाव कैसे रंग बदलते हैं, दफतर भर में उनकी पहुंच और जानपहचान कितनी है—ऊपर की आमदनी के न होते हुए भी दिन किस तरह मजे से कट रहे हैं। बात चीत होती रही और हम घर पहुँचे। कमरे में घुसते ही वह ज़ोर से चिल्लाए-"अरी सुना तुमने ! यह किशना..." और वाक्य को अधूरा ही छोड़ कर उन्हें जैसे अपने कहे पर हंसी आ गयी हो। हंसते २ मुझसे कहने लगे—"मैं भी कितना भुलक्कड़ हूँ। अभी तुमने सुनाया कि सवेरे आये हो। अरे, तुम्हारी बड़ी भाभी तुम्हें कैसे न बुलाती और तुम भी उनसे कैसे न मिलते ?" और मुझे उत्तर देने का अवसर न देकर फिर अपनी पत्नी से सम्बोधित हुए—"क्यों जी, खिलाया था कुछ देवर को ? पूरे चार माह बाद दर्शन हुए हैं, लाट साहब के।" मैं उनकी हंसी में अपनी हंसी मिलाता रहा और उन्होंने मुझे पास बैठने का संकेत करते हुए कहा—"अरे भाई, बैठो। आज खूब रहेगी। चलो, तुम अब आए तो एकाध दिन रंगीन बीते गा।"

मैं उनकी ऐसी प्रसन्न मुद्रा को देखकर अचरज में आ गया था। बलजी मखौल बाज और हंसमुख तो तब भी थे लेकिन यहां उनकी काया पलट हुई थी। इतनी देर में उन्होंने दियासलाई जलायी और हुक्का सुलगाते हुए पत्नी से कहा—"लाओ न कांगड़ी" इतना सुनते ही गुणवती ने कांगड़ी में उसी दिया सिलाई से आग सुलगाई। यह सब कुछ एक मशीन की तरह हुआ और मुझे लगा कि गुणवती इसी तरह इसी दियासलाई से आग जलाने की आदी है। रोज ही ऐसा होता है। कांगड़ी फूंकते हुए गुणवती मुझ से कहने लगी --"किशण जी, दूध पियोगे या चाय ही बनाऊं ?'

"वाह, किशन की भाभी ! देवर के लिए दूध ला चुकी हो।" हैरान से लहजे में बलजी बोले। लेकिन उन का हंसमुख मुंह उस विस्मय को जल्दी छिपा पाया। फिर वे कहने लगे—"दूध क्या पिएगा ! अपने हाथ से एक इलायची डाल कर ही चाय बनोओ तो दूध का स्वाद आ जाए।" और वे फिर हंसने लगे ! मैं गुणवती भाभी का उत्तर ही न दे पाया था लेकिन यह समझ गया कि उन्होंने पत्नी के दूध के प्रस्ताव को टाल दिया है। उनकी हंसी में मैंने फिर अपनी हंसी मिलाई और कहा—"हां भाभी ! भैय्या ने तो यहां भी आपकी ही तारीफ की। चाय ही पिलाइए।" हम इसी तरह हंसी मजाक कर रहे थे कि मैंने देखा द्वारिकानाथ आ गए। मैं उन से मिलने को उठा तो उन्होंने खड़े

खड़े मुझ से हाथ मिलाते हुए कहा—"वाह भाई ! पक्के चांद हो गए ईद के तुम । कहो ! कहां पड़े रहते हो । कभी चेहरा दिखा जाते यहां पे । यह क्या सूरत बना रखी है ? क्या खाना नहीं मिल रहा घर पर ?" इतने सारे प्रश्नों का उत्तर एक साथ न दे सकने के कारण मैंनें उसे नीचे बिठाते हुए कहा—"बैठ जाओ तो बताऊं । अब आ रहे हो दफ्तर से ?"

"अभी तो आ रहा हूँ सीढ़ियां चढ़ते ही तुम्हारी आवाज पहचान ली सो भागता-भागता आया ।" वह फिर उठ खड़ा हुआ, और भाई बलजी से कहने लगा—"क्या, चाय बन रही है ?"

"हां, द्वारिका ! बैठो चाय पीकर जाना ।" बलजी ने द्वारिकानाथ से कहा ।

"अरे, आज किशना कितनी देर बाद आया है । उसे चाय—यहीं पिलाएंगे । मेरी सुनो किशना", और उसने मुझे बाहर खींचते हुए कहा—"एक चाय की दुकान खुली है दफ्तर के पास, चलो, वहीं आपकी गरीबों जैसी मेहमानवाजी की जाए ! चलिए भैय्या आप भी !"

"नहीं प्यारे !"

रसोई से निकलती हुई गुणवती कहने लगी—"दोनों की चाय बन चुकी है ।"

"तो क्या हुआ ? मैं सवेरे आकर पिऊंगा ।" कह कर द्वारिकानाथ व्यंग से—जोर से हंसा । मुझे यह बहुत बुरा लगा कि बलजी के आतिथ्य को टालने के लिए मैं मजबूर हो रहा हूँ, लेकिन अब तक द्वारिकानाथ मुझे अपने कमरे में पहुंचा चुका था । उसने मुझ से कहा—"क्या चाय और कुलचा पियोगे ? शहर से आ गए तो गांव में भी शहर के मजे देखो ! हम ही ने यह चाय की दुकान खुलवाई । दफ्तर से थके मांदे निकलते हैं तो चाय के एक कप से फिर ताजा हो जोते हैं । मैं तो कहता हूँ कि हम और हमारे दोस्तों की टोली यहां एक साल और रहे तो गांव को भी शहर बना के छोड़े । बस एक सिनेमा घर की कमी है ।"

द्वारिकानाथ ने कोट पतलून उतारे और एक धुला कमीज व पाजामा और स्वेटर पहन ली । बालों को झाड़ा । और हम चल पड़े । अभी हम दरवाजे पर ही पहुँचे थे कि पीछे से गौरी भाभी की आवाज सुनाई दी ।

"सुना जी, चिट्ठी आयी है घर से !"

इतना ही सुनना था कि द्वारिकानाथ ठिठक गया। उस के चेहरे पर से खुशी और मस्ती के भाव एक दम गायब हो गए। और उसने पीछे मुड़े बिना ही कहा—"रुपया भेजने के लिए लिखा है ना ?" इस पर गौरी भाभी ने बच्चे को गोद से नीचे पटक दिया और उबल पड़ी—"तो न भेजो ! अपनी बहिन है, अपनी मां है ! मैंने अपने लिए एक पैसा भी कभी मांगा हो तो यह निका अभी मर जाए ! तुम्हारी मां तो दावतों में जाते थकती भी नहीं। उसे तो महीने में दस बार इन शादियों पर पैसा खर्च करना होता है। आज मौसी के चचेरे भाई की बहू आनी है तो कल मामूं की लड़की का गौना। बूढ़ी है, लेकिन सम्बंध तो सभी से बनाए रखना है। न भेजो उसे पैसे तो मेरी बला से।" और वह उल्टी हवा में आगे बढ़ती मशाल की तरह लौट गई।

द्वारिका नाथ थोड़ी देर सिर लटकाए खड़ा रहा और फिर धीरे धीरे वहां से चल पड़ा। मेरा मन न जाने कैसा हुआ। सामने बलजी चाय को तौलिया से थामे हुए और दूसरे हाथ से कुलचा कुतर २ कर चाय में डालते हुए दिखाई दिए। हंस कर उन्होंने कहा—"भई किशन, चाय तुम्हारी भाभी ने बस आज ही ऐसी बनाई है। होटल चलना था लेकिन एक घूंट पी जाते।" मैं अभी द्वारिका नाथ के घर के बारे में सोच कर उदास सा हो गया था। सोचा था कि बलजी क्रुद्ध होंगे, बात नहीं करेंगे, इसलिए जाकर पहले क्षमा मांगूगा कि आतिथ्य ग्रहण न कर पाया। लेकिन अब उनको हंसता देख, जी हलका हो गया। सामने उनके लड़के तेज कृष्ण की ओर देखकर मैं ने झेंप मिटाने की कोशिश की, "क्यों मिस्टर तेज ! खूब खेलते रहते हैं। कभी दिखे नहीं।"

तेज कृष्ण सिर्फ हंसने लगा और बलजी बोले—"अरे, आज जाने क्यों खेलने नहीं गया, नहीं तो यह चाय पीने के समय रोज ही गायब रहता है। आज तो तुम्हारे लिए बनी चाय इसे मिली"। द्वारिका नाथ बहुत आगे चला गया था। शायद उदासी का भूत अभी सिर पर सवार था। मैंने उसे झकझोरते हुए कहा—"क्यों रे ! किस सोच में पड़ गए ?"

मुश्किल से शब्द उच्चरित करते हुए वह कह उठा—"यूं ही कभी मूड बिगड़ जाता है। इस वक्त तो वह वाइफ ने बिगाड़ दिया।"

मैंने उसे इस मूड से उभारने का प्रयत्न करते हुए कहा—"अरे, गौरी भाभी की बात पर नराज़ हुए ! जान देती हैं तुम पर—तुम्हारा इतना ख्याल रखती हैं ! गुस्सा कौन नहीं होता। तुम्हें बुरा नहीं मानना चाहिए।"

"तुम नहीं जानते, किशन, देखो मेरी और भय्या बलजी की तनख्वाह एक जितनी है। उसका एक लड़का है—मेरा भी एक बच्चा है। बलजी घर चालीस रुपया

महावार भेजते हैं। मैं तनख्वाह में से तीस रुपया ही मुश्किल से घर भेजता हूं। लेकिन सदा मेरे घर में अभाव रहा। बाकी मात्र आवश्यकताएं पूरी करने में खर्च हो जाते हैं। फिर यह ऊपरी खर्चा कहां से आए। हम चाय-घर पहुंच चुके थे। द्वारिका नाथ ने आर्डर दिया और थोड़ी ही देर में चाय आ गई। साथ में उबले अंडे और पेस्ट्री भी आ गई। द्वारिका नाथ ने फिर बात शुरू की—"पहले पहले इस होटल का मेरे नाम १५ रुपये माहवार से कम का उधार नहीं होता था, अब मैंने यह भी कम कर दिया है।"

यूं ही मैंने बेतुकी बात कही—जिस पर फिर मैं पछताया भी—

"तुम इसे बिल्कुल बन्द नहीं कर सकते ?"

उसने सिगरेट सुलगाते हुआ कहा—"एक कप चाय से मैं रिफ्रेश हुआ महसूस करता हूं। घर पर बिना दूध की चाय से खाक ऐसी तृप्ती मिलेगी।"

हम चाय पी चुके थे। इसलिए घूमने निकले। पहली सिगरेट से ही दूसरी सुलगाते हुए द्वारिका नाथ ने फिर कहा—"सदा अभाव रहा मेरे घर में।" और उसने घर लौटने के छोटे रास्ते को छोड़ कर दूसरा लंबा रास्ता पकड़ा। मैंने उससे एक और बेतुका प्रश्न किया—"दिन में कितनी सिगरेटें पीते हो ?"

"हद से ज्यादा बढ़ा तो तीन डिबियां।" उसने धुआं उड़ाते हुए और दूर के धुंधलके में अपनी नजर गढ़ाते हुए कहा।

"एक डिबिया से दिन भर का काम चला सकते हो ?"

इस पर वह एक खोखली हंसी हंसा—

"अब शायद तुम यह पूछो कि एक ही बच्चा पैदा करने से काम नहीं चला सकते हो।"

इस पर मैं झेंपा नहीं सिर्फ उस के चेहरे की तरफ देखता रहा। मुझे लगा कि मैं द्वारिका नाथ के चिन्ता प्रवाह में कुछ ढूंढ रहा हूं।

हम घर पहुँच गए थे। तेजकृष्ण तख्ती लिख रहा था। और बलजी खुद मुंह में हुक्के की नै दबाए आंखें बन्द किए कोई धुन गुनगुना रहे थे। साथ ही वह झूमते भी जा रहे थे। द्वारिका नाथ ने अपने कमरे में पहुँचते ही कहा—"कंजूस हैं मेरे बड़े भाई साहब तो एक नबंर के।" इतना सुनना ही था था कि उनकी पत्नी गौरी रसोई में से आ

निकली और इतना जोड़ दिया--"अजी, हद दर्जे के।" मैंने देखा उनका गुस्सा काफ़ूर हो चुका था। वे हम दोनों के पास आई और फुसफुसा के कहने लगी—

"क्यों भय्या! आप के लिए तो चाय बनायी थी फिर पी क्यों नहीं?"

मैं शायद यही उत्तर देता कि द्वारिकानाथ ने जो मुझे खींच लिया लेकिन मेरे उत्तर देने से पूर्व ही द्वारिका नाथ जी कह उठे—

"चाय दो आदमियों के लिए ही बनती है। बेटे को भगाए रखते हैं। और तो तुमने देखा होगा किशन। एक ही दियासलाई से हुक्का भी सुलगाते हैं और कांगड़ी में आग भी उसी से बनती है। फिर उस हुक्के को घंटों नहीं छोड़ेंगे। आग भी बुझ गई होगी, तम्बाकू भी खत्म हुआ होगा लेकिन आप तो—कश खींच रहें होंगे। कजूसी देखनी हो तो कोई इन्हें देखे।"

बातचीत बहुत गंभीर रूप ले रही थी, उसे ज़रा हल्का बनाने ने लिए मैंने मज़ाक किया—"आप भी तो आलोचक हैं एक नंबर के! नहीं हद दर्जे के।"

इस पर थोड़ी देर हंसी मज़ाक का आदान प्रदान रहा। गौरी भाभी रसोई देखने चली तो द्वारिकानाथ फिर अपने विषय पर आ गए--"पैसा दांत से पकड़ते हैं। पत्नी—मेरा मतलब भाभी गुणवती से है—के हाथ रोज़ गिन कर पैसा देते हैं। सवेरे उठ कर सौदा लाना, सब्ज़ी खरीदना—यह सब उन्हीं का काम है।" उन पैसों से काम चलाना जाने तो गुणवती भाभी।" थोड़ी देर रुक कर द्वारिकानाथ फिर बोले—

"चलो, अभी तुम्हें एक और चीज़ दिखाते हैं"—मैं उठा और उनके पीछे चल दिया। हम बलजी के कमरे में दाखिल हुए। बलजी ने साधारण लहजे में अपने छोटे भाई द्वारिका नाथ से कहा—"क्यों भई, दिखला लाए किशन को अपना 'अशोका होटल' और हंस कर उन्होंने मेरी ओर देखा—"द्वारिका ने इस चाय की दुकान का नाम अशोका होटल रखा है। सुना है दिल्ली में इस नाम का एक शानदार होटल है।" इस पर मैं भी उस निश्छल हंसी में भाग लेता रहा। थोड़ी देर बाद द्वारिका नाथ ने बलजी से कहा—

"भाई साहब, आज आप भी मेरे यहां खाना खाइए, मज़ा रहेगा—किशन आया है।" रसोई से निकलती हुई गुणवती भाभी की अबाज सुनाई दी—

"नहीं, इनका खाना बन चुका है। वह............"

"मैं सवेरे खाऊंगा" द्वारिका नाथ ने कहा और ज़ोर ज़ोर से हंसने लगा।

रात को खाना खाकर तीनों बहुत देर तक ताश खेलते रहे। बलजी अपना बुझा हुक्का गुड़गुड़ाते रहे और द्वारिका ने कई सिगरेट फूंक डाले।

सोते समय मेरे दिमाग में देर तक द्वारिका नाथ के ये शब्द घूमते रहे—

"मेरे घर से अभाव कभी नहीं गया।"

× × × × × ×

सवेरे मैं जगा तो साढ़े आठ बजे थे। द्वारिका नाथ सवेरे ही जगे थे और पत्नी के साथ इस बात पर झगड़ रहे थे कि उनके टायलट के सामान में से साबुन, क्रीम, और टुथ पेस्ट चुरा कर उनकी पत्नी क्यों प्रयोग करती है? मैं उकता कर बलजी के पास चला गया।

वे शायद अभी जागे थे। क्योंकि हुक्का अभी सुलगाया गया था और गुणवती अभी वहीं बैठी कांगड़ी फूंक रही थी। गुणवती चली गई तो बलजी ज़ोर ज़ोर से देवी का जाप करने लगे—शायद रोज़ ही ऐसा करते हों—इंद्राक्षी नाम सा देवी.........

मैं हाथ मुंह धो आया तो देखा बलजी बुझा हुक्का गुड़गुड़ाते हुए तेज कृष्ण को पढ़ा रहे थे। इतने में सवा नौ के करीब हुआ था। वहीं बैठे उन्होंने पुकारा—"खाना लाओ—सवा नौ बज गये"—और थोड़ी देर में खाना आया। शायद चाय नहीं पी गई थी। तभी मुझे द्वारिका नाथ की बात याद आयी कि शाम को ही चाय बननी है पति पत्नी के लिए।

उधर द्वारिका नाथ नहा आये थे। करीब आधा घण्टे में वे खाना खाने के लिए तैयार हुए। दस बजने में पांच मिनट बाकी थे तो भागे भागे चल पड़े। जाते हुए मुझ से कहा कि दिन में दफ्तर ही मिल लेना।

जब वे चले गए तो गौरी भाभी ने कहा—"आज भी खाना नहीं खाया। कभी समय पर नहीं पहुँचते। रोज़ देर हो जाती है। और तो और, कोई दिन मुझ से झगड़े बिना नहीं जाता। आलसी हैं हद दर्जे के।"

मैंने गौरी भाभी को कोई उत्तर नहीं दिया। मैं सोच में पड़ा था। कल मुझे लगा था कि मैं द्वारिका नाथ के मस्तिष्क से कुछ ढूंढ़ रहा हूँ लेकिन अब मुझे आभास हुआ कि मैं असमर्थ हूं। मैं कोई कारण नहीं ढूंढ़ पाता कि दो भाइयों के साधन एक से हैं तो फिर एक निश्चिन्त और तृप्त हैं, दूसरा क्यों बेचैन और अतृप्त है।

दिन को मैं द्वारिका नाथ के दफतर चला तो फिर वही ख्याल मन में उठा। मन भारी हुआ। लेकिन दिमाग समझाता रहा—द्वारिका नाथ बलजी के घर में नहीं रह सकता और न ही बलजी द्वारिका नाथ के वातावरण में पल सकता है। द्वारिका नाथ ने मेरी प्रश्न सूचक दृष्टि देखी तो वह पूछ बैठा—"लगता है कुछ पूछना चाहते हो ?" वह धीरे धीरे मुस्करा रहा था। मैंने सोचा कि इस चरित्र की चरमसीमा यहीं है। इसके गम का कारण इसकी फिजूलखर्ची है, जिसके बारे में वह चेतन है। पर जिसको वह रोक नहीं सकता, यह भी वह जानता है कि बलजी की कमखर्ची ही उसके संतुष्ट जीवन का राज है। यह सब सोच कर मैंने उससे पूछा—

"देखो बलजी कितना संतुष्ट है और तुम........। तुम को फिर से नए सिरे से जीने दिया जाए तो उनका सा जीवन बिताओगे।"

इस पर उसने दांत भींच लिए और कहा—

"जहन्नुम में जाए ऐसी कंजूसी ! हम तो मस्तमौला अच्छे हैं।"

मेरा जी अब और ठहरने का नहीं था। थोड़ी ही देर में मैं लौट पड़ा, बिस्तर गोल किया और सीधे बस पर सवार हुआ। घर पहुंच कर जो पहला काम किया वह था कि इस अतृप्त आदमी की कहानी लिख डाली।



दो गीत

प्रकृति पुरुष में लीन हो गई
स्वयं रागिनी, बीन हो गई ॥

कैसी थी उद्दाम नर्तकी
घर घर झूमी, दर दर भटकी,
जिधर दृष्टि फिर गई उधर ही,
अजय पिपासा, तृष्णा भभकी ॥

विश्व रीझ कर जिस पर रीता
वह ही जल बिन मीन हो गई ॥
प्रकृति पुरुष में लीन हो गई,
स्वयं रागिनी, बीन हो गई ॥

बांहों के दो कूल कि जिसमें
कैसी शांत हुई है धारा,
मुक्त चंचला, मुग्ध हो गई,
पाकर भुजबन्धों की कारा

कैसी थी बरजोर जवानी
अब वह कैसी दीन हो गई ?
प्रकृति पुरुष में लीन हो गई
स्वयं रागिनी बीन हो गई ॥

माथे पर बिखरी अलकों को
अल्हड़ किरणें प्यार दे रहीं
क्या तूने उनको समझा है
रजनी का आंचल मटमैला ॥
सखि री उठ जगने की बेला ॥

नीड़ों से आ गये बिछुड़कर
डाल-डाल बौरंया जोड़े
क्या तुझको अब तक बांधे है
तेरा सपन पिया अलबेला ?
सखि री उठ जगने की बेला ॥

दरवाजे पर झूम रहा है
तेरे हाथ लगाया बिरवा
इसकी बीत रही जलबेला
इतनी तो मत कर अवहेला !
सखि री, उठ जगने की बेला
मुंदे नयन में बन्दी सपने
अब तो उनको छोड़ अकेला ॥

श्रीकान्त जोशी

●

डॉ० निज़ाम उद्दीन

'लोकायतन' : एक पुनर्मूल्यांकन

छायावाद के एक उन्नत रजत-शिखर को हमने कालातप की परिवर्तनशील नाना रंगानुभूतियों से अनुरंजित होते देखा है। वह रजत-शिखर कविवर पंत है। पंत-काव्य में कहीं उषा-कालीन सुकुमारता, भावोर्मियों की चंचलता है, कहीं प्रचण्ड किरणों की उष्णता है, कहीं प्रगति-चक्रवाल का नैरन्तर्य है और कहीं सांध्यगगन की विभिन्न रूपवती छवि, दिवावसन और तमागम के सन्धिस्थल के रूप में विभिन्न विचारधाराओं का सामंजस्य प्राप्त होता है। भिन्न विचारधाराओं, सांस्कृतिक दृष्टिकोणों को विविक्त रूप में प्रस्तुत करने का अनुष्ठान 'लोकायतन' में परिसम्पन्न हुआ है। पंत जी के काव्य-सोपान तीन हैं—(१) सौंदर्यकाल—वीणा से गुंजन तक, (२) प्रगतिकाल—युगांत, युगवाणी, ग्राम्या, (३) अध्यात्मकाल—स्वर्णकिरण, स्वर्णधूलि, उत्तरा, अतिमा लोकायतन। इस प्रकार 'लोकायतन' अध्यात्मोन्मुखी रचना है जिसमें विविधरूपा संस्कृतियों का समन्वय संलक्षित होता है।

'लोकायतन' की पट-भूमि पुष्कल व्यापक है। 'ज्ञातव्य' में कवि ने उसकी कथावस्तु को ग्रामधारा के अंचल में, जन भावना के छंद में बंधी, युगजीवन की भागवत् कथा माना है। जगजीवन के तत्वों को चुन-चुन कर, प्रमुख वृतियों की पूनी बना कर, कथा-सूत्र बाट कर लोक जीवन का पट बुना है। इस महाकाव्य का नामकरण कलाकेन्द्र के नाम पर ही हुआ है। कलाकेन्द्र और 'लोकायतन' पर्याय प्रतीत होते हैं। पंत जी द्वारा बनाई १९५२ की 'लोकायन' योजना यहां सुस्पष्ट रूपायित है। यह नाम सार्थक है, औचित्याधृत है, एक नया प्रयोग है। इसमें स्वाधीनता के पूर्व से लेकर उत्तर--स्वप्न अर्थात् स्वाधीनता

प्राप्ति तक का विशाल भारतीय जीवन अन्तर्भुक्त है। कवि युग-जीवन के यथार्थ के प्रति अति जागरूक है और भौतिक आध्यात्मिक द्वन्द्वों को ही कवि ने परखा है। इस दृष्टी से यह पहला महाकाव्य है जिसमें अपने युग की समग्रता समाहित है। इसका प्रतिपाद्य गांधी-युग का भौतिक-आध्यात्मिक विकास माना जायगा ; कवि-शब्दों में इसका समर्थन है।[1] अतः इसका महत्व दो दृष्टियों से अधिक है—एक तो वर्तमान जीवन का-अपने युग की विभिन्न भाव-भूमि-संवलित घटनाओं, परिस्थितियों का चित्रण, वैज्ञानिकता, भौतिकता और आध्यात्मिकता की पृष्ठभूमि में किया गया है। दूसरे सामयिक युग-गाथा का कल्पना के स्निग्ध-मसृण तन्तुओं द्वारा कथानक का एक मौलिक पैटर्न तैयार किया गया है। ६८० पृष्ठों के वृहदाकार महाकाव्य को 'वाह्य परिवेश' और 'अन्तर चैतन्य' संज्ञित दो खण्डों में विभक्त कर कई एक उपशीर्षकों तथा लघूपखण्डों में संविभाजित किया है। इन्हें सर्ग नाम नहीं दिया है, जैसा कि महाकाव्यों में देखने को मिलते हैं। इसका कथानक शिथिलता और अनुपातहीनता से आहत है। यहां कथानक का निरूपण और कथा-विकास शास्त्रीय मान्यताओं से विमुख है। प्राचीन मान्यताओं की कसौटी पर परखना भी न्यायसंगत नहीं, क्योंकि कवि का उद्देश्य कथा कहना है भी नहीं। इसके पात्र और घटनाएं एक दार्शनिक 'थीसिस' प्रस्तुत करने के लिए एकत्रित किये गये हैं। यह एक प्रविविक्त रचना है और परम्परामुक्त है, कथाप्रधान न होकर भावप्रधान है जैसे 'कामायनी' या 'सावित्री' भाव-विचार-दर्शन-प्रधान काव्य हैं। कथानक के द्वारा कवि का अभिप्रेत विश्व-मानवतावाद और विश्व-संस्कृति की प्रतिष्ठापना है—

देश जातियों से निखरे मानवता,
विधि धर्म संस्कृति हों विश्व समन्वित।

'लोकायतन' में गांधी जी के अतिरिक्त शेष सभी पात्र कल्पना प्रसूत हैं। गांधी महापुरुष के रूप में चित्रित हैं लेकिन वह नायक नहीं। इस काव्य का नायक है कवि वंशी। हरि, श्री, माधो गुरु आदि पात्रों की अवतारणा भी उसमें की है जिसके द्वारा कवि की सत्यानुभूति मुखरित हुई है। परन्तु ये पात्र 'मानव-चेतना के पालकी वाहक भर हैं।' वंशी चेतना का, हरि मन का—युग-कर्म का प्रतीक है। आलोचकों ने लोकायतन के पात्रों पर कट्वाक्षेप भी लगाए हैं, उनकी नैतिकता, अनुशासनप्रियता को देखकर किसी ने उन्हें गुरुकुल के छात्रों के समान निस्तेज और निर्वैयक्तिक भी माना है। परन्तु ऐसे

1. "Its theme : an evaluation of Gandhian age. Science has, no doubt, made life on the material planet worthliving. But at what price ? The inner harmony is gone. This crisis is the theme of my Epic".
—The Illustrated Weekly, May 24, 1964.

आक्षेपों में आंशिक ही सत्य है, उन्हें निःतेज या व्यक्तित्वविहीन कहना अन्याय है। वंशी, माधो गुरु दोनों का पृथक-पृथक अस्तित्व है, उनका निजी व्यक्तित्व है। हरि और वंशी में साम्य-वैषम्य दोनों हैं। नायक वंशी में पंत का छद्मवेशी व्यक्तित्व परिलक्षित होता है। उसी में कवि की भावनाओं को मूर्तिमान करने की कर्मशीलता सर्वोपरि है। वह जनमानस में नवजागरण का मंत्र फूंक उनके कष्टों का निवारण करना चाहता है। स्वराज्य के लिए जेलयात्रा करता है। हरि के अनुसार वह प्रेरणा का स्रोत, जिज्ञासाओं का उत्तर है। स्वतंत्रता उसकी एकमात्र सिद्धि नहीं, वह मन, इन्द्रिय, उर—आत्मा की बहिरंतर विभव से समन्वित करना चाहता है, देश-जाति को बहिष्कृत कर मानवता का सुविकास श्रेयस्कर समझता है। वह अन्तर्मुखी अधिक है बहिर्मुखी कम। कलाकेन्द्र के द्वारा ही वह सुसंस्कृत लोक जीवन की अवतारणा का प्रबलाकांक्षी है। वह संस्कृति-दूत और संस्कृति-पिक-प्रबुद्ध है। रागचेतना को संस्कृत करना उसे अभीष्ट है—

राग चेतना हो भू की संस्कृत,
धरा स्वर्ग हो प्रीति ग्रथित पावन,

वह अपने प्रतिद्वन्द्वी माधो गुरु की प्रतिमा स्थापित कर अपने मार्जित हृदय का प्रकटीकरण करता है। वह एक प्रेरणा है, तभी तो उसके निधन पर पुष्प-दल दृष्टिगोचर होते हैं।

हरि वंशी का अभिन्न मित्र है। उसकी माता जगदम्बा और पिता रघु है तथा बहन श्री है। हरि भी वंशी की भांति देश की पराधीनता, दीनता, रूढिवादिता के लिए विह्वल है। हरि कर्म-यंत्र है तो वंशी प्रेरणा, हरि जिज्ञासा-प्रश्न-चिह्न है तो वंशी जिज्ञासाओं का प्रशमकर्ता—प्रश्नों का उत्तर। उसका व्यक्तित्व सदाशय है, त्यागमय और श्रद्धामय है। वंशी की रक्षार्थ ही उसके प्राणों का विसर्जन होता है। यह उसका अविस्मरणीय, अमर और स्वार्थविहीन त्याग है। वह युग–प्रबुद्ध, जीवन–शिल्पी, कला–प्राण और सौंदर्य तत्व–द्रष्टा है। 'लोकायतन' का एक सशक्त पात्र है माधो गुरु जो जोड़ने की अपेक्षा तोड़ना अधिक पसंद करता है। प्रतीत होता है कि वह मध्यकालीन धर्म का सबल अवशेष है। ईर्ष्या, कुटिलता, अधमता की त्रिमूर्ति माधव प्रतिनायक की भूमिका कुशलता से पूर्ण करता है। उसकी दृष्टि में गांधी-स्वातंत्रतान्दोलन एक गोरखधंधा है। डील-डौल के हट्टे-कट्टे माधो तंत्रमंत्र की विधियों में पारगंत जन-मन को आक्रान्त किये हैं।

जहां वंशी स्वयं पंत के व्यक्तित्व का छायाभास है वहां माधो को निराला के व्यक्तित्व का छायाभास माना जा सकता है। माधो के व्याज से 'कुकुरमुत्ता' तथा 'पंत और

पल्लव' का ऐसा दारुण प्रतिशोध लेना पंत जी के लिए शोभनीय है ! वैसे उन्होंने अपने को निर्दोष बताते हुए—अपनी सफ़ाई देते हुए यह कहा है कि "निराला जी मेरे मित्र रहे हैं, मेरे मन में उनके लिए बड़ा आदर है...... वैसे यदि निराला का कोई रूप इसमें आगया है तो कोई नयी या बुरी बात नहीं। ऐसा तो होता ही है।"[1] 'लोकायतन' में यदि यह माधो के वेश में निराला का चित्र नहीं तो और किसका है—

स्वजन शिष्यों के लिए उदार
लुटा निज जीवन धन सर्वस्व
निराहों का करते उपकार।[2]

× × ×

शक्ति पूजा की जय सर्वत्र
सत्य पूजा का अर्थ विनाश।[3]

× × ×

न वैसा मिला महाकवि अन्य
पड़ा तब से अनामिका नाम।[4]

प्राणवान, सौमनस्य, रसपेशल तथा प्रभविष्णु प्रसंगों का आलोच्य कृति में बाहुल्य भले ही न हो परन्तु वे इन्द्रधनुषवत् मनरंजक हैं जिनमें कविवर की सुकुमार भावनाएं सौंदर्यानुभूति मूर्तित होगई हैं। श्री–सौंदर्य–निरूपण में परम्परित नखशिखशैली का अनुगमन झलकता है, पर अभिव्यंजना में मौलिकता है। नारी के प्रति कवि–हृदय में सहानुभूति है। वह दुख और दैन्य की मूर्ति है।[5] हिन्दू–मुस्लिम दंगों का भी संवेदनशील वर्णन है, कहीं–कहीं दृश्य रोमांचकारी भी हैं।

प्रकृति–चित्रण देखकर तो ऐसा ज्ञात होता है कि 'पल्लव' का नूतन संस्करण 'लोकायतन' के पृष्ठों में अभिव्यक्त है। कहीं जल-चरों की केलि का दृश्य है तो

---

१. माध्यम : जून, १९६५, पृ० ८५
२. लोकायतन — पृ० ३३०
३. वही — पृ० ३३६
४. वही — पृ० ३३८
५. वही — पृ० ६५

कहीं शीत–विकम्पित काग का ठूंठ पर बैठकर खांसने का संकेत है। संध्या में रस्सी–सी बटी धूम्र–रेखा, उससे झांकता श्वेत कपोत-सा चन्द्रबिम्ब सुघर है। नवल वधू सी, श्रंगों पर हल्दी लगाए प्रकृति कुहरिल झीनी चूनर ओढ़े मोहक लगती है। मधुऋतु के चित्र भी सजीव हैं।[1] प्रकृति का मानवीकृत तरलित भावनामय रूप आकर्षक है। चंपक अंगों को अनवगुंठित किए सरिता का रूप-बिम्ब 'नौका-विहार' का स्मरण कराता है। 'हिम शृंगों से लिपटे रहते, चल चित्रग्रीव पारावत घन' (पृ० ६४२) में पावसीय झांकी मिलती है। चितकबरे सांपों-से लेटे कुंतल घन 'बादल' कविता का स्मरण कराते हैं। हिमपात का दृश्य नितांत मनोरम है। श्वेत-शुभ्र मेघखण्डों का शिखरों की गोद में लिपटे रहना जीवन्त कल्पना है, ऐसे प्राकृतिक बिम्ब विरलता से प्राप्त होते हैं। लोकायतन की बिम्ब-योजना वस्तुतः अभिनंदनीय है।

यह धारणा कि गीतिकार प्रबन्धकार नहीं बन सकता पंत के समक्ष निर्मूल प्रतीत होती है। यहां पंत जी की प्रबन्ध-वक्रता श्लघ्य है भले ही इस कृति में शास्त्रीय लक्षणों का अनुपालन न किया गया हो। यों सरस्वती-वंदन, खण्डांत–सर्गांत में छन्द–परिवर्तन, सांध्य–वर्णन, नगर-वर्णन, जलविहार आदि की भी उपलब्धि होती है। कथानक अवश्य पौराणिक या ऐतिहासिक वृत्त पर आधारित है। नायक भी कोई देव, नरेश या महापुरुष नहीं। चतुर्वर्ग फल-प्राप्ति का भी यहां उद्देश्य नहीं। अतः 'लोकायतन' एक नवल प्रयोग माना जायगा—इसका कथानक समसामयिक है, शैली में भी नवीनता है। भाषा छायावादी न होने पर भी छायावादी जल-कणों से आर्द्रत अवश्य है। शब्दों के स्निग्ध, मसृण, शुभ्र, स्फटिक रूपों में कवि का व्यक्तित्व मुखरित है। चिन्मय पावक, केवड़ी कर्ता, हैम शांति, हैम समीर, मर्मारित कक्ष, मखमल ज्वाला, क्षौम मसृण समीर आदि ऐसे ही शब्द हैं। लोक-जीवन का महाकाव्य होने के कारण अनेक स्थलों पर शब्द-विधान ग्राम-चेतना से अनुप्राणित है, मुहावरे-लोकोक्तियां जन-प्रचलित हैं। कहीं-कहीं संस्कृत-हिन्दी के उद्धरणों की अवतारणा भी है। उनकी अलंकार–योजना में पारदर्शी कलात्मकता का परिचय मिलता है। सम्प्रति नयी कविता में जैसे सार्थक उपमान मिलते हैं वैसे यहां भी दृष्टव्य हैं। नयी कविता के युग में ही तो इस महत्काव्य का सृजन हुआ है। दृश्य-स्पर्श बिम्ब कितने सटीक हैं—

जल में सन्ध्या की छाया सा,
तिरता था मुख पर नीरव दुख।[2]

---

१. लोकायतन — पृ० १६१
२. वही — पृ० ४५

घेन - त्वचा - से लहरे जल पर
ज्योति रेख कंप प्रतिपल थर थर ।[1]

यहां अमूर्त को मूर्त और मूर्त को अमूर्त करने में कितनी सूक्ष्मता भरी है । यौन-चित्र भी हैं । उपमाएं अछूत और अनाघ्रात हैं ।[2] अपने शिल्प-विधान के कारण यह ग्रन्थ स्वातंत्र्योत्तर काल के सर्वोत्कृष्ट महाकाव्यों में स्मरणीय बना रहेगा ।

'लोकायतन' का चिन्तन-पक्ष अत्युच्च है । अरविन्द-गांधी-दर्शन के साथ कवि औपनिषदिक दर्शन से भी अनुप्रेरित हुआ है । भौतिकता और आध्यात्मिक, विज्ञान और धर्म का सामंजस्य यहां निर्धारितप्राय है—

दो पक्षी रहते एक वृक्ष पर शाश्वत
चखता पीपल फल एक, स्वाद रस में रत ।
दूसरा देखता, भोग मुक्त मन, अनशन,
जीव ही ईश, जो भव हित प्रभु-अर्पित मन ।[3]

यह भोग और त्याग की भावना उपनिषदों में भी संलक्षित होती है ।[4] आत्मा के गुणों का प्रस्फुटन तथा उसके अभ्युत्थान पर अधिक ध्यानकेन्द्रित किया है । जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण 'निवृत्तिमुखी नैतिक वर्जनाओं' का निरूपण करना नहीं, अपितु 'लोकमंगल-रत प्रवृत्ति' को परिवर्द्धित करना है । कवि एकाकी आत्मोन्नति में विश्वास नहीं करता, उसकी साधना वैयक्तिक न होकर सामूहिक है । धार्मिक, सांस्कृतक ऐक्य स्थापित कर मानवता की—विश्व एकता की प्रतिष्ठा करनी चाही । कवि की ईश्वर में पूर्ण आस्था है । 'कुछ भी न विश्व में जो न ईश से भास्वर' को सत्य मानता है । वास्तविक मुक्ति सभी की सुख-शांति की व्यवस्था में निहित है । कवि की चिन्तन-पद्धति अद्वैतवादी है ।[5]

---

१. लोकायतत — पृ० ४५
२. वही पृ० ५९
३. वही पृ० २४१
४: द्वासपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
त्यारेन्यः पिप्पलं स्वाद्वन्यनश्नन्ये अभिचाकशीति ॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥
मुण्डको० ३/१
५. लोकायतन—पृ० २३९

पंत जी में गांधी-दर्शन की मानवतावादी भावना का पक्षाग्रह है। प्रेम, अहिंसा, त्याग, सेवा, मानव-ऐक्य ये गांधी-दर्शन के मूल-तत्व हैं। लोकायतन मानव के अन्तः-वाह्य विकास की कहानी है। जीवन के आन्तरिक और वाह्य तत्वों में जब तक समन्वय स्थापित न होगा तब तक नव मानवता की किरणें पृथ्वी पर नहीं उतर सकती हैं।" और इसी जीवन-दर्शन की उपलब्धि गांधी-अरविंद के भौतिक-आध्यात्मिक जगत् के एकीकरण के लक्ष्य द्वारा संभव हो सकती है। कवि का मुख्य अभिप्रेत नवमानव की अवतारणा करना है। कविवर ने स्वयं कहा है "जिस चेतना को महाभारतकार, भागवतकार या मानसकार ने व्यक्त किया है उसी को मैं ने अपनी जीवन-दृष्टि द्वारा मानव पर चरितार्थ करने का प्रयत्न किया है।......मैं ने तो ऊर्ध्वमुखी मनुष्यों की कल्पना की है। 'लोकायतन' में मेरा ईश्वर संतों या किसी धर्म का नहीं है। मैंने तो मनुष्य को भू-स्वर्ग कहा है। मेरा विश्वास है कि धरती ही स्वर्ग है और इस पर जीवन जीने वाला मनुष्य ही इसका ईश्वर है।"[1]

उनका भौतिक-आध्यात्मिक के समविकास में विश्वास है तथा वैयक्तिक मोक्ष की अपेक्षा समष्टि-मोक्ष को वरेण्य माना है। यहां वैराग्यमूलक प्रवृत्ति का खण्डन किया गया है और रागमूलक भावना को अंगीकार किया है। 'लोकायतन' की वैचारिक पृष्ठभूमि रागात्मक ही है। 'उत्तरा' में भी कवि ने अरविंद दर्शन को विश्व-कल्याणार्थ एक देन माना है। अतः उस दार्शनिक विचारधारा से कवि को संतोष है। यह विचार-दर्शन 'चिदंबरा' में अवलोकनीय है।[2]

'कामायनी' की दार्शनिक भित्ति मूलतः वैयक्तिक आनंदवादी दर्शन पर आधारित अधिक है, 'लोकायतन' की सामूहिक भूमि पर अधिक आधारित है। इसीलिए 'कामायनी' का प्रारम्भ 'हिमगिरी के उत्तुंग शिखर' से होता है और लोकायतन का 'उटज गुहा' से। कामायनी की दार्शनिक भूमि पर पंत जी को पहले भी आपत्ति थी और यहां भी समरसता को निषेध किया है—

समास स्थिति में ही अटक ऊर्ध्व
संभव न वहिर्मुख विश्व-प्रगति।[3]

---

१. माध्यम, वर्ष २, अंक २, पृ० ८४-८५

२. चिदंबरा—पृ० २५-२६

३. लोकायतन—पृ० ६२४

निष्कर्षतः 'लोकायतन' इस युग की एक अमर कृति है, उसमें पंत जी के काव्य की प्रौढ़ता संदर्शित है। यहां विगत एकांगी वैष्णवी साधना का बहिष्कार है, सर्वलोक हितकारी नूतन साधना-पद्धति—मानव-साधना पद्धति, मानव-जीवन-दर्शन की अभिव्यंजना है। इसमें विज्ञान और अध्यात्म नवीन चेतना-बोध में समन्वित होकर प्रस्फुटित हुई हैं।[1]



लेखकों से निवेदन

- 'शीराज़ा' में प्रकाशित रचनाओं पर पारिश्रमिक दिया जाता है।
- स्वीकृत रचनाओं की सूचना एक महीने के अन्दर भेज दी जाती है।
- केवल वही अस्वीकृत रचनाएं लौटाई जाती हैं, जिनके साथ लेखक का पता लिखा, टिकट लगा लिफाफा होता है।
- अस्वीकृत रचनाओं के सम्बन्ध में कोई पत्र-व्यवहार नहीं किया जाता।
- कश्मीरी, डोगरी तथा अन्य क्षेत्रीय भाषाओं सम्बन्धी उच्चस्तरीय लेखों का हम सहर्ष स्वागत करते हैं।
- 'शीराज़ा' में प्रकाशित रचनाओं में व्यक्त विचारों से सम्पादकीय सहमति अनिवार्य नहीं है।
- अनुवाद के साथ मूल लेखक की अनुमति भेजना आवश्यक है।



१. सरस्वती (जून १९६५) पृ० ४५०

धर्मचन्द प्रशांत

डोगरा वेशभूषा

किसी भी देश की वेश-भूषा उसकी सभ्यता और संस्कृति की प्रतीक कही जाती है। वेश-भूषा का सम्बन्ध देश की जल-वायु के साथ भी है, इसी लिए गरम देश और सर्द देश के पहनावे में बड़ा अन्तर होता है। डुग्गर प्रदेश में गरमी भी अधिक पड़ती है और शीत भी। इसी कारण यहां खिलके कुर्ते भी पहने जाते थे और लम्बे चोगे भी। गहनों का भी यही हाल था।

डोगरा परिधान का पता यहां के प्राचीन चित्रों से मिलता है। इस लिए इस विषय में खोज करते समय हम डेढ़-दो सौ वर्ष से ऊपर नहीं जा सकते। कहा जाता है कि राजा रणजीत देव के समय पंजाब की प्रसिद्ध बेग़म मुग़लानी भाग कर जम्मू चली आई और यहां पर राजा ने उसका बड़ा आदर सत्कार किया। बेग़म से मिलने के लिए रणजीत देव की रानियां भी आई थीं जो गहनों और जरी के वस्त्रों से लदी हुई थीं। इसका उल्लेख मुग़लानी बेग़म के साथी इतिहासकार मस्कीन ने भी किया है। परन्तु मस्कीन ने राजा रणजीत देव की रानियां उनके पर्दे में रहने के कारण देखी नहीं होंगी। उसने इस विषय में जो कुछ भी लिखा है वह बेग़म की जबानी होगा। वह इसी कारण गहनों के नाम ठीक ठीक नहीं लिख सका है। मस्कीन लिखता है कि जम्मू की रानियों की वेश-भूषा मुग़लिया परिधान से बिल्कुल मिलती है। यहां स्त्रियां तंग चूड़ीदार पायजामा पहनती हैं और लम्बे कुर्ते के ऊपर बड़ी कीमती पोशाक पहनती हैं। गहनों का वर्णन करते समय वह उनका मिलान बेग़मों के गहनों से करता है। उसने लिखा है कि राजा रणजीत देव की रानियां सोने के गहनों से मढ़ी हुई थीं।

यह सत्य है कि डोगरा परिधान पर मुगलिया वेश-भूषा का बड़ा प्रभाव पड़ा है परन्तु यहां पहने जाने वाले वस्त्रों की कुछ अपनी भी विचित्रता है। इसलिए हम इस लेख में इस बात का विशेष उल्लेख करेंगे कि कौन सा वस्त्र यहां का अपना है और कौन सा प्रभाव-रूप में चला आया है।

प्राचीन काल में किसी भी देश की मुख्य वेश-भूषा वहां के राजा की होती थी और उसके उपरान्त सामन्तों और अन्य राज-दरबारियों की होती थी। वह होती तो थी राजा की नकल परन्तु उतनी कीमती नहीं और तड़क-भड़क में भी कम।

पुरुषों की प्राचीन डोगरा वेश-भूषा इस प्रकार थी—सिर पर पगड़ी जो सात रंगों की हुआ करती थी, पहनी जाती थी। पगड़ी (साफा) के ऊपर कलगी और जिगा रहती थी। पगड़ी के बांधने का ढंग बदलता रहा है। राजा रणजीत देव के समय साफा पहनने का ढंग बिल्कुल डोगरा था परन्तु महाराजा गुलाब सिंह के समय इस पर कुछ कुछ सिख दरबार का प्रभाव पड़ा। पगड़ी का पलड़ा गले के पिछले भाग को ढके रहता था। यह महाराजा रणजीत सिंह के दरबारी परिधान की विशेषता थी। तंग चूड़ीदार पायजामा और खिलका कुर्ता यह डुग्गर की अपनी विशेषता थी जो काफी समय तक चलती रही है। इसके ऊपर एक ज़री चोगा पहना जाता रहा है जो काफी कीमती रहता था। पुरुष भी गहने पहनते थे। वे कानों में बाले और गले में कण्ठे और हाथों में कंगन और गोखरु पहनते थे। यह था राजाओं और दरबारियों का पहनावा; परन्तु साधारण जनता की वेश-भूषा पर बाहिर का प्रभाव कम पड़ा है। साधारण पहनावा जो दो सौ वर्ष पहले था; ग्रामों में आज भी वही है। आज अन्तर केवल इतना है कि कोट पहना जाता है और खिलके कुर्तों के स्थान पर कमीज़ें आ गई हैं। पहले बटन नहीं होते थे और उनकी जगह घुण्डीबीड़ा चलता था। मर्दाना पायजामा कुछ ढीला रहता था। शीतकाल में लोग पट्टू ओढ़ लेते थे।

स्त्रियों की वेश-भूषा भी समय के साथ साथ चलती आई है। सुत्थन, चूड़ीदार जनाना पायजामा, बिल्कुल मुसलमानी नकल है। इससे पूर्व घाघरे पहने जाते थे। सुत्थन का रिवाज यहां मुगलों के समय ही हुआ है। रानियों का परिधान कमीज़ और उसके ऊपर 'पशोआज' रहती थी। साधारण स्त्रियों के वस्त्र घाघरा चोलड़ी और घना दुपट्टा था। घाघरा तो काफी देर तक चलता रहा। महिलायें सुत्थन तो पहनती थीं परन्तु उनके ऊपर घाघरे लगा लेती थीं। यह पहनावा आज से ३० वर्ष पूर्व तक प्रचलित था। ग्रामों में मोटे वस्त्र की 'गिद्दी' बांधने का रिवाज था जो आज भी है। जूते की बनावट में थोड़ी सी भिन्नता है। रानियों और दरबारी-स्त्रियों के जूते ज़री के होते थे जिन्हें चानना कहा

जाता था। साधारण जूता वही था जो आज भी ग्रामों में चलता हैं। साधारण वर्ग की महिलाएं लाखी के जूते पहनती थीं जो नया फैशन समझा जाता था। आज से ५० वर्ष पूर्व इसका बड़ा रिवाज था।

डोगरा परिधान में वास्कट भी सम्मिलित हुई थी और यह अंग्रेजी पहनावे की नकल थी। हमारे डुग्गर में वास्कट पर एक एक सौ तक सीप के बटन जड़े रहते थे। यह फैशन काफी समय तक चला था। कोट, वास्कट और टोपी अंग्रेजी फैशन था। यहां पर साधारण लोग कानोंवाली टोपी पहनते थे। ग्रामों में आज भी पहनते हैं। सर्दियों में इसके अन्दर रुई भर ली जाती थी। इसी प्रकार कुर्तों और पायजामों में भी रूई भर दी जाती थी शीत से बचने के लिए।

जम्मू में सीप के बटन आज से ६५ वर्ष पहले चले थे, उससे पूर्व कुर्तों पर घुण्डी लगाने का रिवाज था। घुण्डी एक ही रहती थी, गले के साथ। जनाना कुर्ते किनारी के साथ जड़े रहते थे। जितना ज्यादा कीमती कुर्त्ता उतनी ही अधिक किनारी। सिलेमा और तिल्ला बाद में आया है और वह भी पहले राज घराने में। सिलेमा और तिल्ला से जड़ित वस्त्रों को जरी कहते थे। सरकारी तोशखाना में एक ऐसी कमीज थी जिस पर मोती और हीरे जड़ित थे। इसी प्रकार दुपट्टों पर भी हीरों के टांकने का रिवाज था।

पुरुषों का ग्रीष्मकाल का पहनावा था खिलका कुर्ता, उसके ऊपर दुपट्टा, सिर पर पग्ग और साफा और नीचे धोती अथवा घुटन्ना। परन्तु शीत काल में पस्तीन अथवा फर्द लिया जाता था। पस्तीन में रुई भरी रहती थी, वह आधी बाहों वाली भी होती थी और पूरी भी। यह साधारण भी होती थी और कीमती भी। इसके किनारों पर कीमती फर लगाने का रिवाज था। राज दरबार में जाने वाले लोग चोगे पहना करते थे।

जनाना गहनों में डोगरा प्रदेश बढ़ा-चढ़ा था; इनका वर्णन कुछ पर्यटक इतिहासकारों ने भी किया है। राज-दरबारी अथवा अधिक जन तो सोने के गहने पहनते थे, परन्तु निम्न-वर्ग के पुरुष सोने का गहना नहीं पहन सकते थे। राज-घराने में पुरुष सोने के जड़ाऊ हार भी पहनते थे। स्त्रियों की साधारण वेश-भूषा हाथों में चांदी के गोखरु अथवा पौंचियां थीं। गले में चांदी की मेल काफी वजनी होती थी। कानों में चान्दी के बाले अथवा बालियां और सिर पर चक्क और कनफूल, नाक में नत्थ जिसे बालू कहते हैं। निम्न वर्ग की महिलाएं चान्दी की ही नत्थ पहनती थीं परन्तु मध्य-वर्ग की स्त्रियां सोने की।

राज-घरानों और धनवान स्त्रियों के गहने सोने के ही होते थे, परन्तु रानियों के जड़ाऊ रहते थे। वे थे —

हाथों में पौंचियां; ये साधारण नगों से लेकर हीरों और पन्नों से जड़ित रहती थीं, बांह के ऊपर कांटे होते थे जो काफ़ी जड़ाऊ होते थे। गले के गहनों में हार सब से बड़ा गहना था। लोक-कथाओं में नौलखिए हारों का भी वर्णन मिलता है। हारों पर हीरे, पन्ने और लाल जड़े रहते थे। इनके अतिरिक्त बुगदिएं भी पहनी जाती थीं। यह पुराने पैसे के आकार की होती थीं, ऊपर कोई चित्र रहता था। जुगनी और नाम भी गले के ही गहने थे जो रत्नों से जड़ित रहते थे। मध्यवर्ग की महिलाएं गले में सोने की ढड्डिएं पहनती थीं, निम्न-वर्ग वाली चान्दी की पहनती थीं। कानों में बुन्दे और कुण्डल भी पहने जाते थे।

माथे का गहना टिक्का था और कान के पास अर्ध-चन्द्रमा भी रहता था। सिर पर चक्क और कन्न-फुल्ल और उंगलियों में अंगूठियां पहनने का बड़ा पुराना रिवाज है। पांवों में छल्ले पजेबें (पायज़ेब) और कड़ियें होती थीं। निम्न-वर्ग और मध्यवर्ग की स्त्रियां चांदी की पहनती थीं और राजघरानों की सोने की बांह में सोने अथवा चांदी का नेन्त (अनन्त) पहनने का रिवाज था। निम्न-वर्ग की स्त्रियां तांबे का पहनती थीं। कानों में झुमके पहनने का रिवाज आज से ५० वर्ष पूर्व ही चला था और आज तक भी है। हाथों में वंगां कोई ७० वर्ष पहले नहीं पहनी जाती थीं, ये पंजाबी गहना था। हमारे डुग्गर में पौण्डों का हार पहनने का रिवाज था। राजघरानों में झूमर भी माथे पर लगाया जाता था जो मुग़लिया गहना था। अंग्रेज़ी गहना कांटा (कानों का) भी पहना जाता रहा है।

आज पुराने गहनों में केवल बालूं (नत्थ) ही प्रचलित है, शेष नये ढंग के हैं। वरन्तु आधुनिक गहने वज़नी कम होते हैं। प्राचीन गहने भारी अधिक होते थे। एक गोखरू ३० तोले तक होता था।



चमन लाल सपरू

हिन्दी कविता में कश्मीर

कश्मीर आदि काल से साधकों, पर्यटकों और साहित्यिकों का आकर्षण केन्द्र रहा है। हर एक ने कश्मीर के प्राकृतिक सौन्दर्य और यहां की संस्कृति से प्रभावित होकर कुछ न कुछ लिखा है। संस्कृत साहित्य में कश्मीर का विशद वर्णन हुआ है। महाकवि कालिदास के अद्भुत प्रकृति वर्णन करने पर आलोचक उन्हें कश्मीर वासी ही सिद्ध कर चुके हैं। मंख कवि ने 'श्रीकण्ठ चरितम्' में कश्मीर का वर्णन किया है। बिल्हण ने 'विक्रमांक देव चरितम्' और कल्हण ने 'राजतरंगिणी' में कश्मीर के विविध पहलुओं पर प्रकाश डाला है। प्रसिद्ध दार्शनिक अभिनवगुप्त ने तंत्रालोक में कश्मीर का रोचक वर्णन किया है। "कविता के विलास तो सचमुच केसर के पुष्पों के सगे भाई होते हैं; क्योंकि शारदा देवी के प्रदेश कश्मीर को छोड़कर उन दो वस्तुओं की उत्पत्ति मैंने अन्यत्र कहीं नहीं देखी।"[1]

फारसी के लेखक तो कश्मीर को 'ईराने-सगीर' ही मानते हैं। "यदि पृथ्वी पर कहीं स्वर्ग है तो यहीं है, यहीं है, यहीं है।"[2] इसी प्रकार अंग्रेज़ी साहित्य में भी कश्मीर का विभिन्न पहलुओं से विशद वर्णन हुआ है। कई सुन्दर कविताएं भी कश्मीर के बारे में अंग्रेज़ी कवियों ने कही हैं।

---

१. सहोदराः कुंकुम केसराणां भवन्ति नूनं कविता विलासा :
न शारदा देशनपास्य दृष्टो मया यदन्यत्र तयोः प्ररोहः ॥—बिल्हण

२. अगर फिरदोस बर रूये जमीं अस्त हमीं अस्तो हमीं अस्तो हमीं अस्त ॥

इसके अतिरिक्त भारत की अन्य प्रादेशिक भाषाओं में भी अनेक कविताएं कश्मीर के सम्बन्ध में लिखी गई हैं। पंजाबी[1] और उर्दू[2] में इस प्रकार की कविताओं के संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इन पंक्तियों के लेखक ने "हिन्दी कविता में कश्मीर" नामक काव्य-संग्रह लगभग तैयार किया है, जो यथा-शीघ्र प्रकाशित करने की व्यवस्था की जा रही है। मेरे मन में कई वर्ष पूर्व इस प्रकार का एक प्रतिनिधि संकलन तैयार करने की इच्छा हुई थी और इस संबंध में सामग्री संकलन करने के लिए कदम उठाया। डा० हरिवंश राय बच्चन को जब मैंने एक पत्र लिखा तो उन्होंने उत्तर दिया—"...मैंने कश्मीर पर शायद ही कुछ लिखा हो। मैं कश्मीर कई बार गया। पर इसके सौन्दर्य पर इतना मुग्ध हुआ कि वाणी मौन हो गई ......"

कश्मीर पर हिन्दी में जो भी कविताएं लिखी गई हैं उनको तीन खण्डों में प्रस्तुत किया जा सकता है।

१. प्रकृति वर्णन संबन्धी कश्मीर पर कवितायें।
२. भारत-पाक युद्ध के समय लिखी कश्मीर सम्बन्धी कवितायें।
३. विविध कवितायें।
४. स्थानीय कवियों की कवितायें।

प्रकृति वर्णन संबन्धी कवितायें

कश्मीर के प्राकृतिक सौंदर्य से प्रभावित होकर हिन्दी कवियों ने अधिकांश कवितायें लिखी हैं। नंदन-कानन, भारत का मुकुट-मणि, यहां की झीलें, ऊंची-ऊंची बर्फ से ढकी चोटियां, लहलहाते खेतों वाला कश्मीर—कवियों के लिए सदैव प्रेरणादायक है। हिन्दी में लिखी हुई पहली कश्मीर सम्बन्धी कविता में भी कश्मीर-सुषमा का ही वर्णन किया गया है। इस कविता के लेखक हैं श्रीधर पाठक। कविता की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं:—

"धनि धनि श्री कश्मीर धरनि, मन-हरनि सुहावनि।
धनि कश्यप-जस धुजा, विश्वमोहिनी मन भावनि॥
धनि पुरातन प्रथित धाम, अभिराम अतुल छवि।
स्वर्ग सहोदरि बरनि बरनि हारे कोविद कवि॥"

---

१. पंजाबी कविता विच कश्मीर—सरदार हरबंस सिंह आजाद।
२. ए जन्नत—ए—कश्मीर—आबिद मनावरी।

पाठक जी की कविता में प्रकृति वर्णन बड़ा ही सजीव हुआ है। साथ ही कई पंक्तियों में अनुप्रास की छटा देखने योग्य है :—

मृदुल दूब-दल रचित, कुसुम-भूषित सुचि शाद्वल ।
ललित-लतावलि-वलित कलित कमनीय, सलिल-थल ।।

अनेक झीलों को देखकर कवि के मन में विचार उत्पन्न होता है संभवतः यह प्रकृति देवी ने अपने रूप सौन्दर्य को देखने के लिए दर्पण सजाये हैं :—

एक-एक सों सुथर अनेक, सरोवर छाये ।
प्रकृति देवी निज-रूप-लखन, मनु मुकुर लगाये ॥

... ...

प्रकृति यहां एकांत बैठि निज रूप संवारति ।
पल-पल पलटति भेस छनिक छबि छिन-छिन धारति ॥

विमल-अम्भु-सर मुकुरन मंह मुख-बिम्ब निहारति ।
अपनी छवि पै मोहि आपहि तन मन वारति ॥

कश्मीर के अद्भुत सौन्दर्य का वर्णन करते हुए पाठक जी कहते हैं कि इसके सौन्दर्य की उपमा किससे दी जाए ? कश्मीर अनुपम है। स्वर्ग और कश्मीर की तुलना भी नहीं की जा सकती। वास्तव में कौन किससे सुन्दरता में बढ़कर है ? यह कहना कवि के लिए कठिन है —

कौ सोभा कौ भौन रूप कौ कौन समुंदर ।
काकौ उपमा उचित दैन-दौउन में काकी ॥
याकौं उपमा याही की मोहि देत सुहावै ।
या सम दूजौ ठौर सृष्टि में दृष्टि न आवै ॥

श्री सत्यनारायण पाण्डेय ने 'कश्मीर-विजय' नाम से एक खण्डकाव्य लिखा है। इसमें आरम्भ में कश्मीर की प्रकृति का विशद वर्णन किया गया है। पाण्डेय जी द्वारा रचित इस ग्रंथ का एक पद इस प्रकार है—

जलद धरा में मनमाना बरसाते वारि,
उर्वरा वसुन्धरा भी फूली न समाती है।

कमल वनों में मकरंद झूमता है भरा,
कुंकुम पराग की बनाई यहां जाती है ।

पथिक न भूलें फल-भार से झुके हैं द्रुम,
अतिथि प्रसन्न पूजा प्रकृति चढ़ाती है ।
आठों याम चन्द्र-सूर्य आरति उतारते हैं,
सरित सरोवरों में नियति नहाती है ॥

डा० सूर्यनारायण 'कश्मीर-सुषमा' नामक कविता में जहां कश्मीर के दर्शनीय स्थलों यथा—पहलगांव, शालामार और निशात आदि से प्रभावित हैं वहां अबोध कश्मीर महिलाओं के लावण्य का वर्णन करना भी नहीं भूले हैं :—

कुञ्चित केशमयी कामिनियां, रूप राशि अम्लान ।
शुभ्र कुमुदिनी सी कर्दम-मय मलिन वसन अज्ञान ॥
काश्मीर के वन्य-कुसुम सी जन मन करती भ्रान्त ।
चंचल मीनों सी, चितवन सी निर्विकार और शान्त ॥

कश्मीर की प्रेरणादायक सुषमा का वर्णन अमर बहादुरसिंह अमरेश ने इन शब्दों में किया है—

जिसके बर्फीले माथे पर किरणें रास रचाती हैं ।
पहन रेशमी साड़ी ऋतुयें गुल्मों में छिप जाती हैं ।
जहां घटाओं के घुंघुरू को पुरवैया स्वर देती है—
कली-कली को जहां कोकिला बाहों में भर लेती है
चट्टानों पर जहां फिसलती चन्दा की तस्वीर है
वह धरती का स्वर्ग हमारा केसरिया कश्मीर है ॥

हरिकृष्ण प्रेमी हिन्दी के उच्चकोटि के नाटककार होने के साथ-साथ एक सहृदय कवि भी हैं । कश्मीर पर लिखी हुई इनकी कविता "यह मेरा कश्मीर" उक्त विषय पर लिखी एक सर्वप्रिय रचना है । कश्मीर की धरती स्वर्ग के समान है । यहां की एक-एक वस्तु निराली है और यहां की सुषमा पर सारा जहान कुर्बान है । पर्वतों पर चमकती चोटियां ऐसे लग रही है मानो उन्होंने बर्फ का दुशाला सरपर ओढ़ा हं । झरनों में पानी नहीं चांदी पिघल कर बह रही हैं । यह धरती नहीं कुदरत की मादक मुस्कान है । इसके चारों ओर ऊंचे-ऊंचे पेड़ इस प्रकार लग रहे हैं मानों सैनिक इसकी पहरेदारी कर रहे हैं । प्रेमी जी की कश्मीर पर लिखी हुई कविता से कुछ अंश अस्वादन करने योग्य हैं ।—

"यह बहिश्त की बगिया
सुमनों एवं सुफलों वाली;
इसका यौवन देख खुशी से
फूल उठा खुद माली;

मादक नजर फूंक देती है
मुरदों में भी जान।
यह मेरा कश्मीर कि—
जिसकी धरती स्वर्ग समान।

चक्करदार मार्ग बाला के,
बालों से घुंघराले
फिसल गया कोई भूले से
पड़े जान के लाले;

इसकी उलझन भरी डगर पर
है हैरान जहान। यह मेरा......

झूल रही झीलों में झूला
चढ़ती हुई जवानी;
चंचल चाल हंस सी
चलती नौकाएं मस्तानी;

लहरों से टकरा गातीं
हैं पतवारें गान। यह मेरा......

वीरेन्द्र मिश्र ने संगीत की लय पर एक गेय कविता लिखी है। इसमें से एक पद उद्धृत है :—

है डल-झील निशात जहां
एक सुरमई रात जहां
कुहरा डूबी चंदन-वाड़ी करती मीठी बात जहां
झरनों का संगीत वहां
मल्लाहों का गीत वहां
जंगल-जंगल होड़ लगी है तितली और टिटहरी में
चलो चलें फूलों की घाटी में नावों की नगरी में।

इसके अतिरिक्त कई और हिन्दी कवियों ने अपनी कविताओं में कश्मीर-सुषमा का सरस, सजीव और सुरुचिपूर्ण वर्णन किया है। हिन्दी कवियों के लिए कश्मीर हर प्रकार से प्रेरणादायक रहा है और यही कारण है कि उनकी वाणी ने कश्मीर के बहुमुखी सौन्दर्य का वर्णन किया है।

भारत–पाक युद्धों के समय लिखी कवितायें

१९४७ के देशविभाजन के बाद पाक-दस्युओं ने कश्मीर को हथियाने का जो दुःसाहस किया उसका यथोचित जवाब भारतीय सैनिक ने रणभूमि में दिया। हिन्दी कवि ने भी हुंकार की और एक देश-भक्त के कर्त्तव्य को निभाया। उसने अपनी कविता से अन्य देशवासियों पर यह बात स्पष्ट कर दी कि कश्मीर हम सब की आन है और इसकी रक्षा के हेतु हम सब ने मिलकर काम करना है। कश्मीर की रक्षा इसलिए भी करनी आवश्यक है क्योंकि यह हमारी सनातन संस्कृति का एक अमर प्रतीक है।

कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह के शब्दों में—

भारत के वाङ्मय-वैभव का उद्गम समृद्ध,
भामह, वामन, उद्भट, कुंतक, रुद्रट प्रसिद्ध
आनन्द वर्धन, अभिनव वाणी के शीर्ष सिद्ध
जय अमरनाथ ! जय कश्मीर !

सुप्रसिद्ध कवि पंडित श्यामनारायण पाण्डेय ने शत्रु को जोरदार शब्दों में ललकारा है—"सारा कश्मीर हमारा है।"

"वह घाटी वह पर्वत श्रेणी
वह जो सरिता की धारा है।
सौन्दर्य जहां तक फैला है
सारा कश्मीर हमारा है॥

इतिहास हमारा साक्षी है
भूगोल प्रमाण हमारा है।
हमने न स्वार्थ हित कभी
युद्धों में औरों को ललकारा है॥

पर जो हमको ललकारेगा
उसका जवाब हम देंगे ही ।
जो कुछ युद्ध में उतरेगा
उससे हम टकरायेंगे ही ।।

विश्व राजनीतिज्ञ कई योजनायें बनाकर कश्मीर को पाकिस्तान के हाथ सौंपना चाहते थे। इस साम्राजी चाल को समझ कर सुप्रसिद्ध हिन्दी कवयित्री कमला चौधरी ने इस प्रकार लिखा—

भीख में कश्मीर दे दूं ?

क्या कहा कश्मीर दे दूं ; हिन्द की जागीर दे दूं,
यह कभी मुमकिन न होगा मुलक की तक़दीर दे दूं ।
क्या हिमानी कूल दे दूं, जाफरानी फूल दे दूं ?
गंध केसर की नशीली, बूटियां अकसीर दे दूं ?
... ...
पर्वतों का ताज दे दूं हिन्द का यह नाज़ दे दूं
अब गवारा है नहीं डल झील का भी नीर दे दूं ।
... ...
भीम अर्जुन से हजारों वीर रक्षा को खड़े,
ओ दुशासन ! हाथ में क्यों द्रौपदी का चीर दे दूं ?

कश्मीर के कई महाज़ों पर भारतीय जवानों ने जो अद्‌भुत और अद्वितीय साहस का प्रदर्शन किया उसका वर्णन हिन्दी कवियों ने स्वर्णाक्षरों से किया। सुप्रसिद्ध कवि शिव सिंह 'सरोज' ने 'रक्त-रंजित कश्मीर' नामक काव्य-पुस्तिका में दुर्गम-द्रास-विजय का मर्मस्पर्शी वर्णन इस प्रकार किया है—

जय हिम-नग के मग पर जग मग, पावक-पग धरने वालो ।
जोजीला का त्रास दूर कर द्रास-विजय करने वालो ।
हिमपथ का वह प्रबल प्राण पर पड़ जाने वाला पाला,
अर्जुन, भीम, युधिष्ठिर तक को जिसने जकड़ गला डाला
प्रतिपल कंपित, उत्पल-झंपित, जगवंदित पर्वतमाला—
जिन वीरों के लिए बन गई अशनिपुरी आश्रय शाला !

जिनके अनल उगलते पौरुषपर विस्मित इतिहास खड़ा,
जय हो उनके ज्योतित पदतल प्रतनु प्रभा भरने वालो !

... ...

जिनके गर्म रुधिर पर नगपति का हुलसित हिमहास धरा,
केसर-प्रान्तर के जन्मान्तर का ज्योतित इतिहास धरा,
अरितीरों से जिनवीरों की ताक़त का तूनीर भरा,
उन्हीं जवानों के कौशल के करतल पर कश्मीर धरा।
हिन्द वाहिनी के योद्धा जय सहचर अमर हिमालय के,
युग की ज्योति जिलाने वालो और स्वतः मरने वालो !

शिवसिंह सरोज की एक और प्रसिद्ध कविता है ब्रिगेडियर उस्मान के बारे में। ब्रिगेडियर उस्मान का नाम भारत-पाक युद्ध के अमर सेनानियों में सर्वोपरि है।

केसर की क्यारी की स्वतंत्रता का निखार
कल्याण कौमुदी का प्रति पलकों में प्रसार,
उस्मान तुम्हारे बलपर ही था अवलम्बित,
संतुष्ट - सुहृद थे, और शत्रुदल आंतकित।

जब क्लीव कबीली-दल कश्मीरी केसर में—
चुपके से रख करके चिनगारी हर घर में—
बस लूक लगाने को उद्यत हो जाता था,
बन वेग वारि का कौन उसे धो जाता था ?

वह तुम थे सेनप, जिसका दामन पकड़ प्यार
चलता था पशुओं के आगे सीना उभार।
'भैया-उसमान' अमर उन बहनों के दुलार,
जिनको लाए थे तुम उस आफ़त से उबार।

इस प्रकार के आधुनिक भीष्म के अद्वितीय पराक्रम का ओजस्विनी भाषा में चरित्र-चित्रण करते हुए कवि अन्त में इस प्रकार श्रद्धांजलि अर्पित करता है—

कश्मीर-हिंद का हृदय मिलन कवि-गान अमर;
मां के पथ का सम्मान अमर, उसमान अमर।

कश्मीर की उपमा स्वर्ग से दी जाती है और पुरानों में वर्णन मिलता है कि स्वर्ग को हथियाने के लिए देवासुर संग्राम हुआ था। आज भी कश्मीर को लक्ष्य बनाकर असुर

(साम्राज्यवादी) इसे हथिहाने के लिए अग्रसर हैं। इस भाव को राजस्थान के कवि परमेश्वर द्विरेफ ने "देवधाम-कश्मीर" नामक कविता में वर्णन किया है—

देवधाम के लिए सुना है, देवासुर संग्राम हुआ था
और आज भी वही आक्रमण, देवधाम पर असुर गणों का
खींच रहा उनको आकर्षण कुंकुम, द्राक्षा, सोम कनों का।
वे लुब्धक की भांति आज मधु के छाते पर मण्डराते हैं।
स्वर्ग हमारा, हम हैं स्वामी यों गाते हैं अकुलाते हैं
किन्तु इन्द्र का वज्र भयंकर जब चीरेगा इनके तन को
हाहाकार करेंगे दानव, प्राण लिए भागेंगे बन को।

... ...

सन् १९६५ में पाकिस्तान ने पुनः कश्मीर को बज़ोरे-शमशीर हथियाने की चेष्टा की। यह सौदा भी उसे पूर्ववत् मंहगा ही पड़ा।

तन्मय बुखारिया ने इस समय 'हमारा कश्मीर' नाम से एक कविता लिखी—

हसीन फूलों का, कलियों का चमन है कश्मीर,
किन्नरों, हूरों का परियों का वतन है कश्मीर,
मगर किसी ने जो चाहा कि इसे डंस लें तो,
आग का ढेर है, इक काला कफन है कश्मीर।

... ...

होश में आओ ज़रा होश को खोने वालो,
ज़िक्र कश्मीर पै 'जहाद' को रोने वालो;
अपने ही नाश को दावत न दो मिट जाओगे,
डालरों, एटमों की सेज पै सोने वालो।

कश्मीर भारत का सम्मान है। यह कैसे संभव है कि कश्मीर भारत से अलग हो। राम प्रसाद मिश्र के शब्दों में—

'यहीं गिरा था कण्ठ सती का यह मां का सीमन्त।
जिसकी कृपालुता लतिका का यहां प्रसार अनन्त॥
भारत के कण-कण में इसके प्रति निष्ठा का मान।
'है कश्मीर हमारा' यह व्रत भारत का सम्मान॥

इस प्रकार राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत अनेक कवितायें कश्मीर के विषय में लिखी गई हैं। राबिन शा पुष्प, शैवाल सत्यार्थी, चन्द्रगुप्त मयंक, घनश्याम अस्थाना, जगदीशचंद्र शर्मा, चंद्रपालसिंह यादव आदि कवियों ने भी उपयुंक्त विषय पर सुन्दर और भावपूर्ण कविताएं लिखी हैं।

विविध

कश्मीर के विविध पहलुओं को उजागर करते हुए बेढब बनारसी, प्रभाकर माचवे, जगदीश गुप्त और प्रकाश दीक्षित ने रोचक कवितायें लिखी हैं। 'कश्मीर-सुषमा' शीर्षक से बेढ़ब जी की व्यंग्यात्मक पंक्तियां देखिए :—

जिस तरह सब व्यंजनों में खीर है,
जिस तरह दीवार पर शहतीर है।
ठीक वैसे ही हमारे देश में,
स्वादमय औ, उच्चतम कश्मीर है॥
... ...
पत्तियां यह हैं चिनारों की नहीं,
खेलती सुषमा बहारों की नहीं।
पास आओ, हाथ का संकेत है,
है जगह दिल में विचारों की नहीं॥

प्रभाकर माचवे कश्मीरी से बड़े प्रभावित हुए हैं। उनकी कश्मीरी-साहित्य में गहन रुचि है—"हमारा सब का काश्मीर" शीर्षक से उन्होंने एक सॉनेट लिखा है। इसमें यहां के प्रसिद्ध साहित्यकारों को स्मरण करते हुए कवि ने भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की है। यहां के कलाकौशल और प्राकृतिक सौन्दर्य को सराहा है। अन्त में शत्रुओं को ललकारते हुए कहा है—

हो नहीं सकता किसी ग़ैर का, सिर्फ़ एक का ए धीर-वीर।
हिन्दू - मुसलमान - सिख हमारा सब का काश्मीर॥"

जगदीश गुप्त का एक कविता-संग्रह 'हिम-विद्ध' नाम से लगभग पांच वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ है। उसमें चंदनवाड़ी के आसपास 'नदी के आवेग' को देखकर कवि की वाणी से यह पंक्तियां फूट पड़ी हैं :—

पर्वतों के बीच बहती
नदी का आवेग

जैसे—

अश्रु बनकर बिखरने से पूर्व
हड्डियों को ठकठकाता हुआ कोई दर्द
रिक्त मन की घाटियों को चीर जाये।

राबिन शॉ पुष्प की एक सुन्दर कविता है—"मांग में सिन्दूर सा"...... । इसमें कश्मीर के दो रूप प्रस्तुत किये गये हैं। जो अन्योन्याश्रित हैं। इनको जुदा नहीं किया जा सकता :—

"......मैं रांझा हूँ—
मुझ से कोई नहीं छीन सकता,
कोई नहीं,
मेरी अपनी धरती, मेरी हीर......
हीर के जूड़े में गुंथा कश्मीर।
... ...
"......मैं हीर हूं—
मुझ से कोई नहीं छीन सकता,
कोई नहीं,
मेरा अपना रांझा,
मेरी तकदीर......
मेरी मांग में सिंदूर-सा सजा कश्मीर।

स्थानीय कवियों की कश्मीर-सम्बन्धी कवितायें

जम्मू-कश्मीर के हिन्दी-कवियों ने भी समय-समय पर विविध विषयों को लेकर कश्मीर सम्बन्धी कवितायें लिखी हैं। सत्यवती मल्लिक (हब्बाखातून की जीवन सन्ध्या), दुर्गा प्रसाद काचुर (पंकज) पुरुषार्थवती (निर्झर) पृथ्वीनाथ पुष्प (बर्फ की सुषमा आदि) जानकी नाथ कमल (कश्मीर में वसंत का आगमन आदि) डा० रमेश कुमार शर्मा (अहरबल का पत्थर आदि) डा० कर्णसिंह (नीलकंठ, एक सुहावना दिन आदि) गंगादत्त विनोद (कश्मीर के बादल) डा० अयूब प्रेमी (पहलगांव की एक शाम और नगीन में शिकारा) मनसा राम शर्मा चंचल (कश्मीर सुषमा और निशात के प्रति) पृथ्वीनाथ मधुप (कश्यपमर) रतन लाल शान्त (चिनार) शशिशेखर (झील का जल) रामदत्त शर्मा (शहर—वितस्ता का शहर, आदी—कवितायें उल्लेखनीय हैं।

सत्यवती मल्लिक ने प्रसिद्ध कश्मीरी कवयित्री हब्बाखातून के प्रति एक मर्म-स्पर्शी कविता लिखी है जो हब्बाखातून दिवस समारोह पर कवयित्री ने पढ़ी थी। कश्मीर की नूरजहां, मलिका हब्बाखातून के अन्तिम दिनों की दुर्दशा का वर्णन करते हुए कवयित्री लिखती है —

......'अरे यह ऊंची-ऊंची रूखी-रूखी चट्टानों पर
लेटी है सुकुमारी, वैरागिन सी कौन ?
न तन पर वस्त्र, न मुख पर हास,
उलझी हुई केश राशि,
हाय यह सुन्दर नाजुक देह !
कैसे लोट रही धूल में
किन्तु अधखुली कमल की पंखुड़ियों सी दो आंखें
टकटकी बांधे
मानो रही हों खींच
तस्वीर गत जीवन की
और लबों से निकल रहा है
हा ! प्यारे वतन, हा ! काश्मीर !

डा० रमेश कुमार शर्मा के 'अहरबल का पत्थर'—एक सॉलोलोकी (एकालाप) के रूप में प्रस्तुत की है। अहरबल में आयोजित पिकनिक के अवसर पर कवि को एक विशाल गर्त के होठों पर रखा हुआ एक पत्थर दिखाई दिया। कवि के मन में विचार आता है कि लोगों ने उसे धक्का देकर पुनः खाई में गिरा दिया और उसके ढुलकने टकराने तथा अन्त में नीचे बहुत नीचे सरिता में गिरने का मजा लूटा। अहरबल के इस पत्थर का शब्द चित्र कवि ने इस प्रकार खींचा है—

युगों का मन्द मन्थन
अजस्र जलधारा की धड़कन
सुनता, सहता, सभति, मौन—
मैं पड़ा रहा सदियों तक पड़ा रहा।

गोरे, सल्लज, सैलानी,
मृदु-मंथर चरणों की—
मिलन रोमांचित चाप
सहता, सुनता, सप्रेम मौन—
मैं पड़ा रहा युगों तक पड़ा रहा।

डा० अयूब प्रेमी ने 'पहलगांव की शाम' में भावविभोर होकर निम्नलिखित पंक्तियां कह डालीं—

पहलगांव की एक मनोहर शाम।
मिटी मोह माया की उलझन।
पुण्यों के फल से पाया है।
मधुर क्षणों का यह वरदान।
जीने को भोले सपनों को
द्वार खोल कारागृह बंधन
सुनते संगीत भरी
लहरों की धड़कन।
... ...

पृथ्वीनाथ मधुप ने 'कश्यपमर' नामक कविता में कश्मीर की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का वर्णन करने के साथ कश्मीर-सुषमा का भी मनोहर वर्णन किया है।

यह कश्यप की पावन धरती
जगदम्बा वरदान है।

यही धरा है जहां गूंजती—
वाणी-वीणा-तान है।
काव्य, कमल, केसर सुषमा की
यहीं मनोहर खान है।
यहीं प्रकटते जनहित को श्री अमरनाथ भगवान हैं।

शशिशेखर की 'झील के जल' कविता की यह पंक्तियां कवि की मौलिक अनुभूति का उत्कृष्ट उदाहरण हैं—

झील के जल में
कांपती हैं बेद की पत्तियां
दर्पणों के जाल में
तड़प उठता है वसन्त।

'चिनार' कविता रतनलाल शान्त की एक नई कविता है। चिनार की शीतल छाया से प्रभावित कवि की वाणी कह उठी—

छांह चिनार की
तन के घायल, सिकुड़े मन को
समय-समय की टीस दर्द से
(कुछ दुःखवाणी बूझ न पाई
कुछ मस्तिष्क नहीं कह पाया)
राह मिली
राहत पाई
पाई बांह बहार की
छांह चिनार की !

●●●

●

प्रकृति माधुरी पर कहा, गर्व तोहि कसमीर !
नन्दन-वन तो सम ग्रहं सोहत परम गम्भीर !!

—अज्ञात (?)

भ्रातः

ओ, मेरेभ्रता !
अब न रोऊंगा
मैं तुम्हारी मौत पर—
एक बार मरो
तो मैं रोऊं भी ।
किन्तु भ्रातः !
तुम तो,
बड़ा हैरान हूँ,
बड़ा परेशान हूं
रोज रोज मरते हो ।

मरो, मरो !
दिन में दस बार
बीस बार मरो—
लेकिन सुनो !
यह मत समझना
खुश हूं देख देख
तुम्हारी
इस रोज रोज की मौत को ।
सच अगर पूछो,
तो सच है यह
ओ, मेरे भ्राता !
अब मुझ से बार बार
रोया नहीं जाता !

सुभाष भारद्वाज

●

वेदराही

दीदी कब आयेगी

"मां, दीदी कब आयेगी ?"

गोपी की यह बात सुन कर बुहारते हुए मां के हाथ रुक गए। उसकी आंखों में नमी के जाले-से तैरने लगे। भराई हुई आवाज में बोली, "गोपी, तुझे बहिन की इतनी ही याद आती है तो उसके पास जा ही क्यों नहीं आते।"

"अकेले कैसे जाऊं, मां, कोई शहर जाने वाला दीखे तब न !" गोपी ने गले में से बस्ता निकाल कर ताकचे में रखते हुए कहा, "मां, अब जीजा जी कभी भी यहां नहीं आएंगे ?"

"आएंगे क्यों नहीं गोपी, तू तो बड़ा ही बेसब्र हो गया है। जब उन्हें छुट्टियां होंगी, वे तब आएंगे।"

"मां, जीजा जी फिर हमारे ही स्कूल में क्यों नहीं आ जाते, उन की जगह पर जो मास्टर आया है, मुझे तो जरा भी अच्छा नहीं लगता, पढ़ा तो सकता ही नहीं, शकल देखो तो हर समय जैसे पेट में मरोड़ उठ रहे हों।"

मां हंस पड़ी।

"गोपी, अपने जीजे तो सभी को अच्छे लगते हैं। दीदी दूर हो गई है तुमसे, इस लिए तुम्हें अपने मास्टर जीजे की जगह पर लगा हुआ मास्टर कैसे पसंद आ सकता है।"

शायद यही बात हो—गोपी ने अपनी टोपी उतार कर बड़े मटके पर रखी और मोढ़े पर बैठकर सोच में डूब गया।

एक वर्ष पहले कृष्ण इसी गांव में मास्टर बन कर आया था। गोपी ने तब दूसरी जमात का इम्तहान देना था। इम्तहान में कठिन प्रश्न पूछे गए तो नए मास्टर पर बड़ा गुस्सा आया था, पर फिर भी वह पास हो गया, और धीरे-धीरे वह नए मास्टर उसे अच्छे भी लगने लगे। उन्होंने कभी किसी लड़के को मारा नहीं था। रोज़ स्कूल से वापस आ कर जब गोपी दीदी की गोद में बैठकर रोटी खाता तो कच्चे आमों की चटनी के समान खाने के साथ-साथ मास्टर जी के बारे में बातें करता।

एक दिन जब लछमी गोपी को गोद में बिठा कर खीर खिला रही थी तो उसने गोपी से पूछा, "गोपू भई, तुम्हारा मास्टर वही तो नहीं पतलून वाला, बड़े-बड़े छत्ते हैं उसके।"

"हां, हां, वही तो है" गोपी जोश से बोला, "शहरी बाबू है छत्ते तो होंगे ही—देखा नहीं कैसे कंघा किया होता है जैसे गाय ने बछुये को चाटा हो।"

लछमी बहुत हंसी सुनकर, फिर कुछ देर बाद अपनी बात को बढ़ाते हुए बोली, "मुझे क्या पता था कि वही है तुम्हारा मास्टर। बावली पर पानी भरने के लिए गई थी मैं, दूर से ही उसे देखा, समझ गई यही होगा तुम्हारा मास्टर।"

और फिर एक दिन, जब लछमी गाय का दूध दुह रही थी और कभी कभी कोई धार पास बैठे हुए गोपी के मुंह में भी डाल रही थी तो अचानक ही बोली, "गोपी, तुम्हारा मास्टर शौकीन बड़ा है, रोज़ ही देखती हूँ उसे बावली पर।"

कृष्ण को अब गांव में आए हुए तीन महीने हो गए थे। एक बार गोपी और लक्ष्मी पार की पहाड़ी पर से अपनी गाय ढूंढ कर ला रहे थे कि तलाई के पास कृष्ण उनके सामने आ गया। गोपी ने हाथ जोड़ जरा झुक कर नमस्ते की। कृष्ण ने मुस्कराते हुए नमस्ते का उत्तर दिया तो अनायास लछमी भी मुस्करा दी, और फिर स्वयं ही लजाकर उसने अपना मुंह दूसरी ओर कर लिया।

उसने बाद कृष्ण ने एक बार गोपी से उसके घर के सम्बन्ध में बातें कीं, और फिर, वह एक दो बार उनके घर आया, और न जाने क्यों लछमी उस समय बहुत शरमाती-सकुचाती रही। तब अचानक ही मां ने एक दिन गोपी से कहा, "क्यों गोपी, तुम्हारी दीदी का ब्याह तुम्हारे मास्टर जी से कर दें?" सुनकर गोपी को बहुत ही खुशी हुई, झट से बोला, "जरूर कर दो मां, मास्टर जी तो बहुत ही अच्छे हैं।"

दो महीनों के बाद कृष्ण और लछमी का विवाह हो गया। लेकिन विवाह होते ही उसकी तबदीली शहर में हो गई। वह तो पहले से ही इस कोशिश में था। उसके केवल दो छोटे भाई थे। माता-पिता स्वर्गवास हो चुके थे। वह जब से गांव आया था, उसे अपने छोटे भाइयों की चिन्ता लगी रहती थी, जो शहर में किसी दूर के रिश्तेदार के पास रहते थे। तबदीली हो गई तो वह बहुत खुश हुआ, लछमी का एक नया जीवन ही आरम्भ नहीं हुआ, वह एक नये संसार में भी आ बसी।

लेकिन बेचारा गोपी अकेला रह गया। लछमी चली गई तो उसका जैसे सब कुछ लुट गया। ठगा-सा रह गया वह। आज तक उसने लछमी की गोद में बैठे बिना कभी खाना नहीं खाया था। लछमी जब कौर-कौर खाना खिलाती थी तो मक्की की सूखी रोटी भी मक्खन के समान गले से फिसल जाती, और अब पानी के साथ भी रोटी निगलना मुश्किल हो गयी।

पहले लछमी और वह दोनों एक साथ पार की पहाड़ी से गाय को ढूंढ कर लाया करते थे। अब वह अकेला गाय ढूंढने के लिए जाता तो कहीं भी गाय न मिलती। विवश हो कर आखिर मां ही जाती तो गाय लाती।

गोपी को कुछ सूझता नहीं था कि वह स्कूल जाने के लिए क्योंकर तैयार हो, और स्कूल से वापस आकर किसके साथ हंसे खेले। मां दूध दुह रही होती तो वह दूर ही से बैठा देखते रहता, कच्चे दूध की धारों के लिए उसका मन छटपटाने लगता। मां को तो सारा दिन चूल्हे-चक्की में जलना-पिसना होता था। गोपी को देख देखकर वह मन मसोस कर रह जाती। वह क्या करती? गोपी के साथ गोपी कैसे बन जाती, उसके लिए तो लछमी बनना भी कठिन था।

मां बुहार कर उठी तो गोपी को रोटी देने लगी। गोपी ने पहला कौर ही मुंह में डाला तो रोज़ की तरह आज भी किसी प्रकार निगला न गया। मां उसकी हालत देखकर बाहर आ गई और पल्लू से आंसू पोंछने लगी, परन्तु जल्दी ही फिर भीतर लौट आई और गोपी को समझाने लगी—"गोपी, तुम्हारे जीजा जी जो शहर में चले गए हैं तो अच्छा ही है। उन्हें यहां अपने छोटे भाइयों की चिन्ता लगी रहती थी। लछमी के लिए भी अच्छा है कि वह शहर चली गई, यहां गांव में क्या धरा है। कृष्ण को तो यहां संयोग ही ले आए उसके। लछमी के भाग ऊंचे थे, पढ़ा लिखा अच्छे घर का लड़का मिल गया। किसी पक्के घर में ही तो रहती होगी वहां—वो लोग अब यहां जल्दी नहीं आ सकेंगे, और फिर बेटा लड़कियां तो अपने ही घरों में शोभा देती हैं।"

"तो फिर मैं अकेला ही मिल आऊं दीदी से ? वह नहीं आ सकती, मैं तो जा सकता हूँ।"

मां चुप रही, और गोपी दूसरे ही दिन शहर जाने के लिए तैयार हो गया।

सफेद धुली हुई कश्तीनुमा टोपी, काला सा खद्दर का कोट, कोट के नीचे तक लटकता कुर्ता, टखनों से ऊंचा पाजामा और पांव में पहाड़ी जूते और कंधे पर एक छोटा-सा कनस्तर, जिसमें मां ने सौगात के तौर पर अचार डालने के लिए कच्चे आम भर दिए थे। इस प्रकार बनसंवर कर गोपी बहिन के घर जाने के लिए तैयार हुआ। मां उसे पांच कोस पर बड़ी सड़क तक छोड़ने के लिए आई, और बस पर चढ़ा गई। गोपी का कन बस में बैठे हुए यों घबरा रहा था, जैसे चिड़िया का बच्चा पहली बार घोंसले से बाहर निकला हो।

गाड़ी शहर में पहुंची तो गोपी ने साहस बटोरा, और इधर-उधर से पूछते-पूछते वह उस मुहल्ले में आ पहुँचा, जहां उसकी दीदी रहती थी। एक घण्टा तो लग ही गया। कनस्तर के भार से उसके कंधे दर्द करने लग गये थे। पसीने में सराबोर हो चुका था वह।

जब वह दरवाजे पर पहुंचा तो कुछ कौतूहल-कुछ भयवश कितनी ही देर वहां चुपचाप खड़ा सोचता रहा। फिर हौले से द्वार खटखटाया। तुरन्त ही एक उसी की अवस्था के बालक ने बाहर झांका, और गोपी को देखकर अचरज से भर गया। गोपी ने धीरे से पूछा, "दीदी घर में है ?" वह लड़का भागकर अन्दर चला गया। कुछ ही क्षणों में लछमी ने बाहर आकर गोपी के कंधे पर से कनस्तर उतार कर उसे गले से लगा लिया। गोपी भी जी भर कर बहिन के गले मिला। भीतर आकर भी कितनी ही देर लछमी के आंसू न रुके। देर से बंधा हुआ बांध टूट गया।

रतन और शाम दोनों टुकर-टुकर गोपी की ओर देखे जा रहे थे। भाई की शादी में उन्होंने गोपी को देखा था। पर वह तो गांव था, और वे खुद वहां मेहमान थे। किसी से ऐसी- वैसी बात कैसे करते। आज अपने घर में गोपी को इन कपड़ों में देखकर एक दूसरे की ओर यों देखने लगे जैसे कह रहे हों—भई हमारी भाभी तो बहुत प्यारी है, पर उसका भाई—?

लछमी ने मां की और गांव के और बहुत से लोगों की सुख-शान्ति के संवाद लिए। अपनी उन सहेलियों के बारे में पूछा, जिनसे रूठकर उसने बोलना ही छोड़ दिया था। गोपी सभी कुछ बताता रहा, अपने सम्बन्ध में वह कुछ न बोला न लछमी ने ही कुछ पूछा। उसे भैया मिल चुका था, उसे दीदी।

कुछ देर बाद गोपी को चुप बैठे देख सहसा लछमी यह कहते हुए उठ खड़ी हुई, "तू रतन और शाम के साथ खेल, मैं चाय बनाती हूँ, उनके आने का टाईम हो गया है।" दीदी के मुंह से उसे टाईम शब्द अजीब-सा लगा। वह आश्चर्य से उसे देखने लगा। तभी उसने रतन और शाम को अपनी ओर टुकर-टुकर देखते हुए पाया। रतन उसी की अवस्था का था, और शाम कुछ छोटा। गोपी का जी चाहा उनके साथ कोई बात करे। वे दोनों भी यही सोच रहे थे। आखिर रतन ने ही पूछा, "तुम्हें लिडो खेलना आता है?"

गोपी को लिडो का क्या पता था। सोचा कोई खेल होगा, "नहीं मुझे नहीं आता।" उसने कहा। रतन और शाम दोनों के लिए आश्चर्यजनक बात थी कि इसे लिडो खेलना भी नहीं आता।

"तुम क्या खेलते हो?"

"गिल्ली डंडा" गोपी ने जरा ऊंची आवाज में कहा, क्योंकि गांव में वह सब लड़कों से अच्छा गिल्ली डंडा खेलता था।

"पर हमें तो भाभी गिल्ली डंडा नहीं खेलने देती।" शाम ने कहा।

दीदी इन्हें गिल्ली डंडा नहीं खेलने देती? गोपी के लिए नई सूचना थी, सोचने लगा मुझे तो दीदी ने कभी मना नहीं किया था गिल्ली डंडा खेलने से। उसे अचानक खयाल आया कि उसकी दीदी जरूर कुछ बदल गई हैं। गोपी को मौन देख रतन और शाम लिडो खेलने लग गये। उन्होंने उसे कहा कि वह देखता रहे।

"गोपी आया है क्या?" जीजा जी की आवाज सुनकर गोपी उठ खड़ा हुआ, और हाथ जोड़, जरा झुक कर नमस्ते की। कृष्ण ने आगे आकर उसे थपकी दी, और पूछा, "अकेले आये?"

"जी हां, मां बड़ी सड़क तक आकर बस पर चढ़ा गई थी।"

"पढ़ाई तो करते हो न ठीक से?"

गोपी ने गर्दन हिलाई और मुस्करा कर चुप हो रहा।

कुछ ही समय बाद लछमी ट्रे में चाय ले आई।

"बाजार से कुछ मंगवा लेना था।" कृष्ण ने कहा।

"सुबह की मिठाई बची हुई थी।" लछमी ने ट्रे को मेज पर रखते हुए उत्तर दिया। कृष्ण ने प्यालियों में चाय डाल, एक प्याली गोपी की ओर सरकायी। दीदी की

ग्रोर देखते हुए उसने एक घूंट चाय भरा लेकिन घूंट क्या भरा सारा मुंह ही जल गया। प्याली हाथ से छूटी ग्रौर नीचे जा गिरी, ग्रौर टुकड़ों में बंट गई। कुछ चाय कोट पर भी गिरी। बेचारा हड़बड़ा कर उठ खड़ा हुग्रा।

"कोई बात नहीं।" कृष्ण ने गोपी को थामते हुए कहा। लेकिन शाम ग्रौर रतन की हंसी रोके न रुक रही थी। मुंह पर हाथ रखकर वे हंसी को दबाने का यत्न करने लगे। गोपी ने दीदी की ग्रोर देखा। उसके मुंह पर उसके मन का रोष दीदी से छिपा न रहा। वह रुग्रांसा-सा हो गया। दूसरी प्याली में उसे चाय तो मिली, पर जैसे चाय में शकर ही न रह गई हो। उसे यों महसूस हो रहा था, जैसे मंत्रवश किसी ग्रौर ही संसार में ग्रा गया है, जहां वह ग्राना चाहता था, वह यह संसार नहीं।

सांझ को लछमी ने गोपी से कहा कि वह रतन ग्रौर शाम के साथ जरा बाहर खेल ग्राये।

"मैं नहीं जाऊंगा।" गोपी ने कहा।

'कुछ देर खेल ग्रा, तब तक मैं खाना बना लूंगी।" लछमी ने कहा ग्रौर रसोई में चली गई। गोपी से यह उपेक्षा सही न जा रही थी। वह तो चाहता था शाम ग्रौर रतन के जाने के बाद वह खाना बनाती हुई दीदी के पास बैठ कर उससे बातें करे, पर उसे बाहर जाना पड़ा।

घर के पास ही एक छोटा सा बाग था। तीनों वहां पहुंचे। रतन ग्रौर शाम के दोस्त पहले से ही वहां जमा थे। कबड्डी खेलने के लिए दो लड़कों ने ग्रपने साथी चुनने शुरू किए। सभी लड़के बंट गये, केवल गोपी रह गया। उसकी टोपी, कोट ग्रौर पहाड़ी जूते देख कर ही उसे किसी ने ग्रपना साथी न चुना, उसे ग्राखिर रतन ने ग्रपनी ग्रोर ले लिया। कबड्डी शुरू हुई। गोपी ने भी टोपी, कोट ग्रौर जूते उतार कर एक ग्रोर रख दिये। 'कौडी', 'कौडी' करते हुए सब इधर-उधर ग्रा-जाकर दांव-पेंच मारने लगे। खेल तेज हुग्रा। पर गोपी तो बुरा फंस गया। दूसरे लड़कों से वह कुछ तगड़ा था, बस यही देख शेष सब लड़के उस पर पिल पड़े। गोपी ने भी क्या मजाल जो किसी को हाथ भी लगाने दिया। लड़के ग्रौर भी चिढ़े। एक ने किसी प्रकार कैंची-दाव मार ही लिया बस फिर क्या था, सभी झपट पड़े उस पर। उसे ऐसा रगड़ा कि सारा शरीर ही छिल गया बेचारे का। नाक से खून भी बहने लगा। रुलाई ग्रा गई। पर वहां कौन था जिसे दिखा कर वह रोता सभी लड़के भाग गये थे, रतन ग्रौर शाम भी। वह ग्रपनी टोपी, कोट ग्रौर जूते उठा कर घर को चला। दीदी तो शायद रसोई में ही थी। रतन ग्रौर शाम दोनों ग्रपनी ग्रपनी

पुस्तकें लेकर आंगन में एक ओर बैठ गए थे। गोपी को आते देख उन्होंने अपने मुंह और भी पुस्तकों में छिपा लिये।

तभी लछमी बाहर निकली तो गोपी का हुलिया देखकर घबरा गई, "यह क्या हुआ ?"

"लग गई।"

"कैसे ?"

"खेलते हुए।"

"देखकर नहीं खेला जाता था ?" लछमी ने उसे बांह से पकड़ते हुए कहा, "चल आ तुम्हें टिंक्चर आईडीन लगा दूं।"

गोपी ने बड़ी कठिनाई से आंसू रोके हुए थे। उसे याद आया कि गांव में कभी चोट लग जाती थी तो दीदी कोई भी बात करने से पहले सेंक देना शुरू करती थी, और यदि मां पूछती भी थी कि "क्या हुआ" तो कोई बहाना बना देती थी, जिससे उसे झिड़क न खानी पड़े।

वह अप्रतिभ सा मुंह फुलाये खड़ा रहा।

रात को जब कृष्ण ट्यूशन पढ़ा कर लौटा तो सभी एक साथ खाना खाने बैठे। बातों-बातों में जब उसे पता चला कि बाग में गोपी की दुर्गति हो गई तो उसने रतन और शाम दोनों के कान उमेठे कि उन्होंने गोपी को क्यों पिटवाया। बस इसी बात पर शाम रोने लगा। लछमी ने उसे अपनी गोद में बिठा लिया, और अपने हाथों उसे खाना खिलाने लगी। गोपी ने देखा तो मन मसोस कर रह गया। सांस घुटने लगा उस का। दीदी की गोद में तो वह स्वयं बैठने के लिए आया था उससे खाना भी ठीक ढंग से नहीं खाया गया। कृष्ण ने देखा गोपी कुछ खा नहीं रहा तो लछमी बोली, 'बेचारे को लस्सी नहीं मिली, स्वाद क्या आया होगा।'

गोपी के लिए लछमी ने खाट अपनी खाट के साथ ही बिछाई और सोने से पहले फिर गांव की बात छेड़ी। पर गोपी का मन बातों में नहीं था। लछमी ने समझा कि उसे नींद आ रही है। "सो जाओ" कह कर उसने कृष्ण की ओर करवट बदल ली। इतने में शाम और रतन-जो एक ही खाट पर सो रहे थे, किसी बात पर लड़ पड़े। "भाभी, शाम मुझे लातें मार रहा है" कहते-कहते रतन ने जो जोर से शाम को लात जमाई तो शाम यों चिल्लाया जैसे बिच्छू ने डंक लगाया हो। लछमी झट से उठ खड़ी हुई, और शाम

को उठाकर अपने बिस्तर पर ले आई। उसे चुप कराया और फिर उसे अपने साथ ही सो जाने के लिए कहने लगी। गोपी चुपचाप लेटा हुआ सब देख रहा था। उसने सोच रखा था कि शाम और रतन जब सो जायेंगे तो वह खुद ही दीदी के पास चला जायगा पर अब तो दीदी ने शाम को अपने साथ सुला लिया-यह क्या हो गया है दीदी को? अनायास उसे मां की याद आ गई। उसकी आंखों से आंसू बहने लगे। रोते रोते ही उसे न जाने कब नींद आ गई।

सुबह वह देर तक साता रहा।

लछमी ने उसे हिला कर जगाया तो वह ऐसे चौंककर उठा मानो अभी कोई भयानक सपना देख रहा था। लछमी ने ध्यान से उस के चेहरे की ओर देखा वह उसे कुछ अस्वस्थ-सा दिखाई दिया।

"क्या हुआ है गोपी तुम्हें?"

"मैं घर जाऊंगा-मां के पास।"

"अरे, अभी कल ही तो आए हो?" लछमी ने कहा, "कुछ दिन तो रहोगे ही न?"

"नहीं, मैं घर जाना चाहता हूं।" गोपी ने जैसे जिद पकड़ ली।

लछमी उसके स्वर की जड़ता और चेहरे की स्थिरता देख कर अचरज से भरी जा रही था। कृष्ण को पता चला तो वह भी बड़ा हैरान हुआ। आखिर ऐसी भी क्या हुई बात। कुछ दिन तो रहता ही। लेकिन गोपी ने मानो किसी की न सुनने की कसम खा ली थी। लछमी तो कुछ भी नहीं समझ पा रही थी। वह दुःखी हो गई। बहुत कहा-सुनी करने पर भी जब गोपी न माना तो फैसला हुआ कि आज स्कूल जाकर कृष्ण एक दिन की छुट्टी ले आएगा, और कल ही सुबह गोपी को साथ लेकर गांव छोड़ आएगा। शाम तक वापस शहर भी आ जाएगा।

दूसरे दिन सुबह की गाड़ी से जाना था। जब गोपी जाने के लिए तैयार हो गया तो लछमी के आंसू थे कि थम ही न रहे थे। बार-बार पोंछते हुए उसका सारा पल्लू भीग गया। गोपी को उसने यों गले से लगाया कि गोपी का जी चाहा वह यहीं रह पड़े। दीदी को यों रोते देख उसे भीतर ही भीतर कोई वेधता चला जा रहा था। काश, वह यहीं रह जाता हमेशा के लिए। हमेशा के लिए दीदी उसे यों ही गले से लगाए रखती। लेकिन अब वह कैसे यहां रहता। जीजा जी उसी की प्रतीक्षा कर रहे थे कि वह दीदी को छोड़े और बाहर निकले। गाड़ी का समय हुआ जा रहा था। गोपी जब बाहर निकला तो शाम और रतन भी महसूस कर रहे थे, यदि वह कुछ दिन और यहां रह जाता तो अच्छी बात थी।

अपना सब कुछ वहीं छोड़ गोपी वहां से चला आया। लेकिन गांव आकर वह फिर वैसे ही था जैसे बरसात के बाद कोई बरसाती नाला।

गांव आये हुए उसे काफी दिन हो गए थे। मां ने उससे अनेक बार पूछा, "तू इतनी जल्दी क्यों लौट आया।" लेकिन गोपी कुछ न बता पाया। कहता भी क्या? न जाने क्यों अब दीदी के बारे में कोई बात ही न कर पाता था वह। मां ने अनुभव किया कि वह वैसे भी बहुत चुप-चुप सा रहने लगा है। लेकिन उसे वह कुछ बताता तब न। स्कूल से आकर ज्यादा समय वह अकेले घूमने में बिता देता। कभी बावली पार की पहाड़ी पर कभी इधर, कभी उधर। अजीब अनमना सा हो गया था वह।

उस संध्या को जब मां दूध दुह रही थी, देखा गोपी चुपके से पीछे आ खड़ा हुआ है। मां ने उसकी ओर देखा तो वह वैसे ही खड़ा था। पूछा, "क्या बात है गोपी?"

गोपी ने कहा, "मां, अब जब दीदी यहां आएगी तो क्या दूध दुह कर दिया करेगी वह तुम्हें।"

"क्यों नहीं।" मां ने दूध की धारें निकालते हुए कहा।

"वह गाय को चराने भी ले जाया करेगी?"

"जायेगी क्यों नहीं भला?"

"वह बावली से पानी भी भर कर लायेगी?"

"लायेगी नहीं तो फिर क्या करेगी वह यहां?"

तब गोपी बिलकुल मां के समीप आ खड़ा हुआ। कुछ देर चुप रहा, फिर भरे भरे स्वर में बोला, "मां, दीदी कब आयेगी?"

मां ने दूध दुहना बंद कर गोपी की ओर देखा, हैरान होकर कहा, "अरे, अभी तो तुम दीदी से मिलकर आए हो?"

"वहां मिलकर आया हूं मां, वह यहां कब आएगी?"

मां कुछ भी नहीं समझी-कुछ भी नहीं, और गोपी रुआंसा हो गया था कि मां को समझाए तो कैसे?



दो गीत

एक

कौन छिपा है मुझ में जिसने
मुझ से मेरा सब कुछ छीना ?

मुझ माटी के घट को क्यों कर—
पटका लाकर चौराहे पर ?
सालिम रहने पाता कैसे
बिखर गया मैं टूट-टूट कर !

किसने कैसे समझ न आता
दूभर कर डाला है जीना !

मैं 'मैं' नहीं रहने पाया हूं
'मैं' हो गया अनेक पराये
ऐसे में मुझको मेरा 'मैं'—
नजरों में कैसे आजाये ।

वही सांस ? मेरी ही क्या ?
धड़क रहा मेरा ही सीना ?

देह हृदय दोनों ही अब तो
चलती जीवित कब्र हो गये
दफन हुए जाते हैं इन में
क्षण क्षण मुर्दे नए औ' नए !

कितने घुट घुट मर जाते हैं
कितनों को विष पड़ता पीना !

कौन छिपा है मुझ में जिसने
मुझ से मेरा सब कुछ छीना ?



दो

एक तीखी बेक़रारी-सी हृदय में :
इक नुकीला दर्द दिल में चुभ रहा !

यह ग़लत संदर्भ जिस से पिन हुआ हूं
ऊब, उबकाई घुटन बिन कुछ नहीं है
बस निरर्थक लग रहा अस्तित्व अपना
चेतना बेबस बिलख कर रो रही है ।

कैक्टस कितने हृदय पर उग रहे हैं
जो उगा था फूल का पौधा, दहा !
इक नुकीला दर्द दिल में चुभ रहा !

पृथ्वीनाथ मधुप

बालकृष्ण राव

पुराना नगर, नया परिवेश : इलाहाबाद

इलाहाबाद कई दृष्टियों से अनोखा नगर है —इस दृष्टि से भी कि वह एक ऐसा पुराना नगर है जिसका पुरानापन यदि असंदिग्ध न होता तो प्रमाणित करना कठिन हो जाता। इस कारण कठिन हो जाता कि उसके पुरानेपन के प्रमाण खंडहरों और टूटी-फूटी मूर्तियों के रूप में बिखरे नहीं मिलते। इलाहाबाद की तुलना में आगरा नौजवान ही कहा जा सकता है, पर जहां इलाहाबाद के चेहरे पर झुर्रियां ढूंढे नहीं मिलतीं वहां आगरे के चेहरे का ऐसा हिस्सा ढूंढ़ना मुश्किल है जिस पर झुर्रियां न हों! कोई बताये न कि इलाहाबाद भारत के ही नहीं संसार भर के प्राचीनतम नगरों में है तो आप भले ही उसके एक सिरे से दूसरे सिरे तक सारे दिन घूमियें, आपको शक भी न होगा कि वह बूढ़ा हो चला है।

इसी तरह अगर आपको पहले से मालूम न हो कि इलाहाबाद (प्रयाग के नाम से) हिंदुओं का परम पुनीत तीर्थराज है तो आपको शायद इसका अंदाज भी न हो कि धार्मिक दृष्टि से भी इस नगर का कोई महत्व है। जैसे यहां खंडहरों की भरमार नहीं है, भग्न मूर्तियों की भीड़ नहीं है, वैसे ही प्रसिद्ध अथवा दर्शनीय मंदिरों की भी श्रृंखला नहीं है। सच तो यह है कि यदि देश के सबसे अधिक सुंदर या बड़े या प्रसिद्ध देवालयों की सूची बनायी जाय तो उनमें से एक भी प्रयाग का न होगा। बिना भग्नावशेषों का यह प्राचीन नगर, बिना प्रसिद्ध मंदिरों का यह तीर्थस्थल, अनोखा नहीं है तो फिर अनोखा किसे कहेंगे?

इस विचित्रता का कारण यह है कि इसका ऐतिहासिक और धार्मिक महत्व ठोस धरती पर आश्रित नहीं है, गंगा-यमुना की लहरों में है। इसी कारण अत्यंत प्राचीन होते

हुए भी वह कभी पुराना नहीं पड़ता। यत्रास्ति गंगा यमुनाप्रवाहः स तीर्थराजो जयति प्रयागः। गंगा-यमुना का प्रवाह ही यदि तीर्थस्थल है तो उसे मंदिर और मूर्ति की क्या अपेक्षा हो सकती है ? गंगा-यमुना का प्रवाह अजर-अमर है, चिर पुराण और चिर नवीन है। इतना ही नहीं, संगम-स्थल सतत परिवर्तनशील भी है, क्योंकि गंगा की धारा परिवर्तनशील है। इस कारण संगम पर कोई स्थायी घाट भी नहीं है। संगम जब जहां हो तब वहीं तीर्थराज की पावनता का केंद्रबिंदु हो जाता है। वहां पुरानेपन की भला क्या सम्भावना हो सकती है ?

जैसे प्रयाग में किसी विशाल या विख्यात मंदिर के न होने का कारण यह है कि उसका तीर्थराजत्व गंगा-यमुना के संगम का जलप्रवाह है जिसे मंदिर या मूर्ति की अपेक्षा नहीं है वैसे ही, और उतने ही स्पष्ट कारण से, प्रयाग में महत्वपूर्ण ऐतिहासिक भग्नावशेषों की भरमार का न होना भी सहज ही समझ में आ सकता है। आधुनिक इलाहाबाद नगर के पास-पड़ोस में अत्यंत प्राचीन नगर कौशाम्बी जैसी राजधानी रही हो पर इलाहाबाद स्वयं न प्राचीन युग में ही किसी विशाल साम्राज्य का केंद्र था, न मध्य युग में ही। प्रयाग पर किसी सिकंदर, गज़नवी या ग़ोरी ने ही नहीं उनके बाद के भी किसी प्रसिद्ध सम्राट,सामंत या सेनानायक ने चढ़ाई नहीं की—क्योंकि प्रयाग पर चढ़ाई करके कोई क्या पाता ? सम्राटों और सामंतों के युग के स्थापत्य के अवशेष, राजप्रासादों और दुर्गों के खंडहर, यहां क्यों होते ? बहुत पुराने युग के भवन जीर्ण-शीर्ण होकर गंगा-यमुना की गोद में सदा के लिये सो गये होंगे, या उनकी धारा में बह गये होंगे। जब तक अकबर ने बांध बनाकर नगर को वार्षिक जलप्लावन से बचा नहीं दिया तब तक तीर्थराज प्रयाग कभी एक जगह बसता था कभी दूसरी जगह। गंगा की धारा और संगम का स्थान यह निश्चित करते थे कि नगर किस स्थल पर बसे। अकबर के बांध ने प्रवाह को मर्यादित करके नगरवासियों को जमकर, निःशंक होकर एक निश्चित भूखंड में नगर-निर्माण की सुविधा प्रदान की। और अकबर के बाद यहां कोई कौशाम्बी नहीं बसी, प्रयाग किसी साम्राज्य की राजधानी नहीं बना। अकबर ने संगम के पास एक विशाल दुर्ग बनवाया जो उस युग के स्थापत्य का, आभियांत्रिक क्षमता का, उदाहरण है, पर किसी युद्ध का स्मारक नहीं है।

जैसे गंगा-यमुना की धारा कभी पुरानी नहीं हो सकती, प्रतिक्षण जीवंत, नवीन और सार्थक बनी रहती है वैसे ही प्रयाग का वर्चस्क और व्यक्तित्व। प्रत्येक युग में युगीन परिवेश के अनुरूप उसने अपने को ढाला, युगीन परिवेश के संदर्भ में उसकी सार्थकता, सजीवता अक्षुण्ण बनी रही। मनुस्मृति में प्रयाग का उल्लेख है। वाल्मीकि के "रामायण" के चौवनवें सर्ग में प्रयाग का उल्लेख है। पुण्यस्थल के रूप में, जहां यज्ञधूम से वातावरण

पवित्र होता रहता था। रामचंद्र गंगापार करके दूर से दीखते हुए यज्ञधूम की ओर इशारा करते हुए लक्ष्मण से कहते हैं : "प्रयागमभितः पश्य सौमित्रे धूमनुत्तमम्"। तुलसीदास के 'मानस' में भी रामचंद्र की आंखों से प्रयाग को देखें तो वही पुण्यभूमि का रूप देखेंगे। तीर्थराज का राष्ट्रीय ठाट-बाट देखें :

सचिव सत्य, श्रद्धाप्रिय नारी। माधव सरिस मीतु हितकारी॥
चारि पदारथ भरा भंडारू। पुन्य प्रदेस देस अति चारू॥
छेत्रु अगमु गढ़ु गाढ़ु सुहावा। सपनेहुँ नहिं प्रतिपच्छिन्ह पावा॥
सेन सकल तीरथ बर बीरा। कलुष अनीक दलन रणधीरा॥
संगमु सिंहासनु सुठि सोहा। छत्रु अखयबटु मुनिमनु मोहा॥
चंवर जमुन अरु गंग तरंगा। देखि होंहि दुख दारिद भंगा॥

सेविहं सुकृती साधु सुचि, पावहिं सब मनकाम।
बंदी वेद पुरान गन, कहहिं विमल गुन ग्राम॥

संगम स्नान करने के बाद रामचंद्र आगे बढ़ते हैं। तब प्रभु भरद्वाज पहिं आये। राम के युग में भरद्वाज मुनि का आश्रम अनेकानेक विद्यार्थियों का शिक्षाकेंद्र था—आज उसी स्थान के निकट जिसे लोग भरद्वाज का आश्रम मानते हैं, प्रयाग का प्रसिद्ध विश्वविद्यालय है। वैदिक वाङ्मय और औपनिषदिक दर्शन के अध्ययन का महान केन्द्र आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा का विराट विश्वविद्यालय बन गया। उसी तरह युगीन आवश्यकताओं के अनुरूप अपने को ढालता हुआ तीर्थराज आधूनिक राजनीति का केन्द्र बना, भारत के स्वतंत्रता संग्राम में प्रयाग ने महत्वपूर्ण और विशिष्ट योगदान किया। एक ओर यदि इलाहाबाद में कांग्रेस कमेटी का प्रधान कार्यालय था, पंडित मोतीलाल नेहरू और उनके यशस्वी पुत्र जवाहरलाल जी का निवास-स्थान आनंद भवन था, जहां समय-समय पर देश के प्रमुख नेता विचार-विमर्श के लिए एकत्र हुआ करते थे और जहां अनेक महत्वपूर्ण निर्णय किये गये, ऐतिहासक अभियानों का प्रवर्तन हुआ—यदि एक ओर महात्मा गांधी के नेतृत्व में चलने वाले राजनीतिक नेताओं का प्रधान कार्यक्षेत्र इलाहाबद में था तो दूसरी ओर 'नरम' नेताओं का भी प्रधान कार्यक्षेत्र इलाहाबाद ही था। डा० तेजबहादुर सप्रु, श्री सी० वाई० चिन्तामणि जैसे नेता भी प्रयाग में ही हुए। हिन्दी और भारतीयता के अमर सेनानी प० मदनमोहन मालवीय और उनके सुयोग्य और प्रिय अनुवर्ती श्री पुरुषोत्तमदास टंडन का जन्म-स्थान और कार्यक्षेत्र भी प्रयाग ही था।

१८५७ के प्रथम स्वतंत्रता सग्राम में इलाहाबाद ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी।

उसके अनेक वर्ष बाद इलाहाबाद में ही वह ऐतिहासिक द्वंद युद्ध हुआ जिसमें परम साहसी देशभक्त चंद्रशेखर आज़ाद ने वीरगति पायी।

हिन्दी के तो प्रयाग भारतेन्दु के बाद से ही सर्वाधिक प्रमुख केंद्रों में विशिष्ठ रहा है। आज के इलाहाबाद में तीन कोनों पर प्रतिष्ठित तीन मूर्तियां तीन स्तरों पर हिंदी के महान उन्नायकों के प्रति प्रयाग के महत्व को प्रमाणित करती हैं। आचार्य महाबीरप्रसाद द्विवेदी की प्रतिमा आधुनिक हिंदी के रूप को निखारने-संवारने की महान साधना की कहानी कहती है, राजर्षि टंडन की मूर्ति हिंदी के प्रचार और प्रसार के संघर्षमय इतिहास की याद दिलाती है और महाकवि निराला की प्रतिमा हिंदी कविता के आधुनिक उत्कर्ष की गौरवगाथा का प्रतीक है।

और अब आज के युग की मांग के अनुरूप इलाहाबाद आधुनिक विज्ञान और उद्योग के क्षेत्र में भी अपना विशिष्ट स्थान ग्रहण करता जा रहा है। मेडिकल कालेज, इंजीनियरिंग कालेज, पालीटेक्निक, नैनी का विकासशील औद्योगिक उपनिवेश और निकट ही पश्चिम की ओर वायुसेना का केन्द्र प्रयाग की अपने को युगानुरूप परिवर्तित करने की क्षमता के प्रमाण हैं। कभी यज्ञ की वेदियों से उठते हुए धुएं को देखकर दूर से राम को प्रयाग की स्थिति का बोध हुआ था। कल कारखानों की चिमनियों से उठते हुए धुएं को रेल की खिड़की से देखकर यात्री जानेगा कि इलाहाबाद नज़दीक आ गया।



● नूरशाह

जिन्दगी के लिए ●

तुम कहां हो ? जरा करीब आओ ताकि मैं तुम्हारी आंखों पर अपनी अंगुलियां रख सकूं और तुम्हारे चेहरे को छू सकूं। तुम्हारी घनेरी जुल्फों की काली घटाओं की गोद में सिर रख कर अपनी नींदों में खो सकूं। तुम्हारी लम्बी-लम्बी और झुकी पलकों की छांव में अपने सपनों को साकार कर सकूं।

मैंने सोचा—यहाँ कुछ भी न होगा, यह कभी न सोचा था, मौत की सी वीरानी है, हर तरफ धूल उड़ रही है, खंडहर के एक बड़े ढ़ेर से अब भी धूएं के सघन बादल उठ उठ कर वातावरण में बिखर रहे हैं कल तक इसी जगह वह छोटा सा सुन्दर बंगला मटिआली धूप की छांव में खड़ा मेरी आत्मा का सहारा था। और अब यहां झुलसी हुई इंटों और पत्थरों का एक विशाल ढेर एक सन्नाटे में डूबा नजर आ रहा है। मेरी आभाहीन बुझी सी आंखें मिट्टी और राख के इस ढ़ेर के नीचे कुछ ढूंढने की कोशिश कर रही हैं। कदम थके थके से उठ रहे हैं। आस-पास के सभी घर हवाई हमले की भेंट हो चुके हैं। परन्तु अपने उजड़े घर के अतिरिक्त मुझे कुछ भी दिखाई नहीं पड़ रहा है। यहां जले हुए फूलों की दुर्गन्ध है। बिल्कुल यहीं फूलों की क्यारियां थीं। अब यहां कुछ भी नहीं—कुछ भी नहीं। हां, राख का एक बड़ा ढ़ेर सामने नजर आ रहा है। राख के इस बड़े ढ़ेर के नीचे कभी वह सुन्दर पोर्च था, जिसका रंगीन फर्श इन्द्र धनुषीय रंग बिखेरता नजर आता था। हां, उधर ड्राइंग रूम था। अब बहुमूल्य सोफों और सुन्दर फर्नीचर के स्थान पर कोयलों के बड़े-बड़े स्याह धब्बे भयानक रूप धारण कर रहे हैं। और लाल रंग के रेशमी पर्दों से सुसज्जित वह सोने का कमरा जहां दाखिल होते

ही अनायास मुझे नींद की अंगड़ाइयां अपनी गोद में लेने को लपकती थीं। संदल की लकड़ी के बड़े बड़े से जड़ाऊ फ्रेम में यहां मैंटल पीस के जरा ऊपर नाज़िश की तस्वीर लटकी हुई थी !

नाज़िश जो अब अपनी तस्वीर की तरह स्वंय भी कहीं दूर चली गई है । मुझे छोड़ कर, इस के वीरान खंडहरों को छोड़ कर कहीं दूर...... । किस तमन्ना से नाज़िश ने सपनों की इस जन्नत को सजाया और संवारा था । लेकिन शायद उसे अपने स्वर्ग ही से प्रेम था । इसके वीरान और झुलसे हुए खंडहरों से नहीं । नाज़िश जो चार साल पहले दुल्हन बन कर मेरे वीरानों को बहारों में बदलने आई थी, पर यह स्वर्ग कितनी जल्दी लुट गया ।

मैं सोच रहा हूं । मुझे याद आ रहे हैं वे दिन जब मैं और नाज़िश एक साथ कालिज में पढ़ते थे । पहले हम सहपाठी थे फिर दोस्त बन गए और धीरे धीरे इस दोस्ती ने प्रेम का रूप धारण कर लिया । प्रेम जिसके अस्तित्व पर मेरा विश्वास नहीं था। प्रेम......मैं समझता था पहली नजर के धोखे के सिवा कुछ भी नहीं । परन्तु नाज़िश से मिलते ही प्रेम सम्बन्धी मेरे सारे संदेह मिट गए । नाज़िश के रूप में मैंने प्रेम का अर्थ पा लिया था ।

मैंने नाज़िश से कहा था ।......"प्यार के दीप जला कर तुमने मेरे अंधेरे रास्तों में जीवन का प्रकाश बिखेर दिया है ।"

नाज़िश ने कहा था ।

"प्रेम के दीप जलते हैं और जल कर ही रोशनी फैलाते हैं ।"

"हां नाज़िश......प्रेम के ये दीपक अब हमेशा हमेशा जलते रहेंगे । हमारा जीवन इसी प्रकार से जगमगता रहेगा ।"

"सच......प्यार ही जीवन की व्याख्या है ।" उसने कहा था ।

"प्यार जीवन का सरमाया है और हम दोनों मिल कर इस सरमाये को जीते जी एक अमानत की तरह रखेंगे ।"

प्यार की यह भावना दबे पांव हम दोनों के दिलों में जगी थी । यह अनसुनी आवाज़ हम दोनों ने एक साथ सुनी थी । और हम ने जीवन भर एक दूसरे के साथ रहने की कसम खाई थी । शिक्षा समाप्त हुई । नाज़िश अपने घर चली गई और मुझे वायु सेना

में कमिशन मिल गया। प्रेम का फूल खिलता रहा, परवान चढ़ता रहा......और एक दिन नाजिश दुल्हन बन कर मेरे घर आई और मैंने कहा।

"मेरे सपनों के झरोके में तुम्हारे रूप की जो तसवीर बसी हुई है उस में तुम परियों को भी शरमा रही हो। तुम्हारे अधरों की मुस्कराहट में मेरे लिए सारे संसार के खजाने छिपे हुए हैं और तुम्हें अपने करीब, इतने करीब पा कर ऐसा मालूम होता है जैसे......?

बस एक स्वप्न था जो एक क्षण में लुप्त हो गया। एक बार फिर मेरी पथराई हुई नजरें अपनी इस लुटी हुई जन्नत की एक ओर उठ रही हैं। मैं अपने लड़खडाते हुए कदमों से आगे बढ़ रहा हूँ। आगे कोयलों और इंटों के इस बड़े ढेर के निकट। यहां कुछ भी नहीं। राख और मिट्टी है। हां! कुछ टूटे और जले हुए खिलौने भी हैं। मेरे मिट्टी और राख से भरे हाथ थर थर कांप रहे हैं। नाजिश और मेरे प्यार का संगम टूट चुका है। वह कली मसली जा चुकी है। वह फूल मुरझा चुका है। मेरा बेटा, मेरी खुशियों और आशाओं का केन्द्र, मेरे भविष्य की कल्पना, मुझे देखे बिना न जाने राख के किस ढेर के नीचे सो चुका है। हमेशा हमेशा के लिए। फिर न देखने के लिये। फिर न मिलने के लिये.........।

"पापा.........पापा"

उस शाम को मैंने नाजिश से सुना था कि वह मां बनने वाली है। वह शाम जैसे सारे संसार की खुशियाँ मेरे लिए समेट कर लाई थी। दूसरे ही दिन मैं रंग बिरंगे खिलौने लिये घर आया। कितने सारे खिलौने थे। नाजिश हैरान रह गई।

"जी यह क्या ?" नाजिश ने कहा था

"खिलौने।"

"किस के लिए ?" नाजिश ने पूछा

"मुन्नी के लिए।" मैंने उत्तर दिया।

"मुन्नी के लिए......? ओह अभी से......?" और फिर उसी समय नाजिश का हंसते हंसते बुरा हाल हो गया था। नाजिश को शायद मेरे भोलेपन पर सहसा ही प्यार आ गया था। मेरा हाथ पकड़ कर मुझे सोने वाले कमरे में ले आई और मेरे सीने पर अपना सिर रख कर ऐसे देखने लगी जैसे मैं मुद्दतों बाद मिला होऊं।

'ऊंह, अच्छा तुम कैसे समझते हो, लड़की होगी ?' उसके भाव में बनावटी क्रोध था।

''मेरा दिल कहता है। एक प्यारी सी बेटी होगी।''

"मैं कहती हूं एक प्यारा सा बेटा होगा।"

"तुम्हारे कहने से क्या होता है, नाज़िश।"

"मेरे कहने ही से सब कुछ होता है।"

'क्यों......... ?"

"इस लिए कि मैं मुन्नी की मां हूं।"

"और मैं मुन्नी का बाप हूं।"

"अच्छा समय आने दो। मुन्ने की मां जीतती है या मुन्ने का बाप।"

"पापा......... ?"

अब कौन मुझे पापा कह कर पुकारेगा। मैंने तो उसे देखा तक नहीं। बस नाज़िश का एक पत्र मिला था। दो दिन पहले की तो बात है। नाज़िश ने लिखा था......

मेरे अच्छे साथी !

मैं जीत गई और तुम हार गए। लड़का हुआ है। बस बिल्कुल तुम्हारे जैसा। हां, तुम कब आ रहे हो ? जल्दी चले आओ। अपने बेटे को देख लो न......मुझे ऐसा मालूम होता है जैसे उस की मासूम आंखें तुम्हें तलाश कर रही हैं। मुझे महसूस होता है जैसे वह अभी से तुम्हें पापा कहने के लिए नन्हे से कोमल होठों को खोलने की कोशिश कर रहा है.........तुम कब आ रहे हो ?

तुम्हारी नाज़िश

और मैं खुशी से झूमता हुआ यह पत्र लेकर अपने अफसर के पास गया था......

"सर, मैं घर जाना चाहता हूं।"

"क्यों............ ?"

"घर से खत आया है, सर। मैं बाप बन गया हूं।"

एक पल के लिए मेरा अफसर खामोश हो गया।

"सर !.........सर ! में चला जाऊं ?" मैंने पूछा।

"मैं जानता हूं तुम्हारा घर जाना जरूरी है, लेकिन......लेकिन तुम तो देख रहे हो कि युद्ध के बादल छा रहे हैं। पता नहीं अगली घड़ी क्या होगा। तुम हमारे एक अच्छे अफसर हो।"

मुझे महसूस हुआ जैसे इन्द्र धनुष के ठंडे और शांत रंग मिल कर खून और आग की लाली में बदल गए हों। जैसे देखते देखते शांत वातावरण में जंग के घने बादल उड़ने लगे हों। शांति के देवताओं को युद्ध के खूंख्वार राक्षसों ने ललकारा हो। विध्वंस ने निर्माण को तोड़ फोड़ दिया हो। खून और आग की होली शुरू हुई हो और मनुष्य ने विवश हो कर आहों और चीखों का दामन थाम लिया हो...हाय ! मैंने सोचा। और आशाओं के दिन थे। उम्मीदें रंग भर रहीं थीं। उमंगें जन्म ले ले कर मचल रही थीं। खेतों में सुनहली बालियां लहरा रही थीं। फसल पकने को थी और उसे काट कर अपनी आकांक्षओं की पूर्ति के सुहावने सपने दिलों को गुदगुदा रहे थे कि सीमा के उस पार एक आवाज उभरी... जंग होगी ! कौन किस से लड़ेगा ? कौन किस के लिए लड़ेगा ? मैं नहीं जानता......मैं......मैं भी तो सेना में इसी लिए भरती हुआ था कि लड़ाइयां लड़ूंगा। दुश्मन से लड़ूंगा......दुश्मन।

मैंने सोचा।

जंग होगी। मौत और वीरानी का सन्नाटा छा जायेगा। खेतों की सुनहली बालियां झुलस जायेंगी। फसलें नष्ट होंगी। फूल झुलस जायेंगे और.........

"क्या सोच रहे हो ?"

"सर ! सोच रहा हूं, आखिर ये लोग जंग क्यों चाहते हैं ? क्यों लड़ना चाहते है ?"

अफसर खामोश रहा। मुझे उसकी खामोशी में अपनी बात का उत्तर मिल गया।

अचानक वह बोला।

"तुम घर जा सकते हो। मैंने तुम्हारी दो दिन की छुट्टी मंजूर कर ली है...... केवल दो दिन की छुट्टी...... ।"

और अब यह मेरा घर है ! कल तक यहां जिन्दगी थी। जिन्दगी की रौनक थी और आज यहां कुछ भी नहीं। कोई जिन्दगी नहीं। केवल धुआं ही धुआं है। मेरी सारी बातें, मेरी सारी यादें, मेरे सारे विचार रंग बिरंगे बुलबुलों की तरह देखते देखते फट कर हवा में घुल मिल गए हैं। मेरे सारे दर्द, मेरे गीत एक साथ जाग पड़े हैं।

मैं चीखना चाहता हूँ। इतनी ऊंची आवाज में चीखना चाहता हूं कि इस भयानक वीराने के सन्नाटे का दिल कांप कर रह जाए और इन सुनसान और वीरान राख के ढेरों और झुलसे हुए खंडहरों से मेरी चीख एक गुंबद की आवाज की तरह सुनाई दे कि समस्त मानवता दर्द और गम से फट कर रह जाए......। लेकिन मैं खामोश हूँ। बस एक मद्धिम सी आवाज सुनाई दे रही है।

"पापा......पापा।"

अब कौन मुझे पापा कह कर पुकारेगा। मेरा बेटा बिल्कुल मुझ जैसा! कौन मुझ से परियों की कहानियां सुनेगा?

शाम का अंधेरा पांव फैलाएगा तो अंदर सोने वाले कमरे की खिड़की में कौन मेरी इन्तजार करेगा। कौन मेरे कदमों की चाप सुनने के लिए इस ओर कान लगाए रखेगा।

चांदनी रातों में कौन मुझ से प्यार भरी बातें करेगा?

कोई नहीं, कोई नहीं—अब कोई नाजिश दुल्हन बन कर न आएगी। कोई नाजिश मेरा इंतजार न करेगी। कोई फूल न खिलेगा—बस अब धुआं फैल जाएगा एक ऐसा धुआं जो सारी धरती को अपनी लपेट में ले लेगा।

मैं जा रहा हूँ। अपनी नाजिश को छोड़ कर। नाजिश के स्वर्ग को छोड़ कर। दिमाग में एक तूफान लिए। दिल में एक टीस लिए। उन से लड़ने के लिए जिन्हों ने मुझ से मेरा स्वर्ग छीन लिया। मैं जा रहा हूँ प्यार की अमानत लूटने वालों से बदला लेने के लिए......मैंने सोचा था। सेना सुरक्षा के लिए होती है। ऐसे हजारों स्वर्गों की सुरक्षा के लिए न कि इन स्वर्गों में आग लगाने के लिए! उन्हें बमों से बरबाद करने के लिए......। मैं जा रहा हूँ......दूर... ..बहुत दूर मैं मानवता के शत्रुओं से लड़ूंगा... बदला लूंगा.........।।

एक समाचार...............

कैप्टन शाहिद की मृत्यु का समाचार पहले ही दिया जा चुका है। अब इस सम्बन्ध में व्योरा प्राप्त हो गया है। कैप्टन शाहिद बड़ी वीरता से लड़ रहे थे कि दुश्मन ने शहर के बड़े नर्सिंग होम पर हमला करने की कोशिश की। शाहिद ने बड़ी हिम्मत और बहादुरी से यह हमला असफल बना दिया और इस तरह कितने ही निर्दोष बच्चों और स्त्रियों के जीवन बचा लिये। पर वे अपनी जान न बचा सके.........!



डोगरी लोक गीत

इक मन मेरा, दूजा तेरा हो।
तीजा मन तोपनीं कसेरा हो॥

थोड़ा मन मेरे कन्ने लायां हो।
थोड़ा मन नदिया रुढ़ायां हो॥

मेरा मन पत्तरे दा पानी हो।
तेरा मन नदिया रुढ़ानी हो॥

खसम मरै रण्डी रीह्ना हो।
यार मरै कियां जीना हो॥

तन्द जे त्रुट्टै गण्डी लैनी हो।
अम्बर फट्टै कियां सीना हो॥



कश्मीरी कविता

● मूल : अमीन कामिल

वगाह् कोर गछ़क ●

नेर् तापस त् सन्यम सीनस तव
बेहम् शीहलिस त् शिठ्यम वदनुक रथ
कांह् ति मोसम छ्यन् तसकीनुक सोंथ
दिले-बेताब् सु वख किथ् चालख ?
यिम सितारँ यलि छ्यवरावन चांगि
वत्-गव रोतग्रन्यन हंदि पाठिन
दिन वतन होंज् गहे रादव वुन
थरि वुहलावि हवा, करि क़ँस् पाक
रंग रावन त् मुशिक सपदन खाक
लहर् गँथ मारन स्व, नब ह्यथि पथ पथ
स्व क़यामत वुजि, ग्रश्कँक मशि कथ
दिले-बेताब् सु वख किथ् चालख

दोस समखी त् ग्रजां ग्रादम-ज़ाद
न पकी ग्रोह कांह् करी युस दरयम
न छ्वकन फ्वकवी, यछ़ी कांह् मरहम
शार तुल्हख त् ग्रथव चलनँ छ्ंद
नाद लायख त् हटिस बासी कुंज
वख दुजां ग्रासि ग्रजरँच दग ह्यथ
लूक् ग्ररसाथा मगर ग्रल्-नफ़सी
वत्-पुद कांह् ति न् वुथ हावि न् थर
प्रथ कदम ग्रासि वरफ़तार प्यवां
ग्राफ़ताब ग्रासि त् कँच् ग्रथ् थुंद
जमहरीर ग्रासि त् कँच् पँदि ब्वन
ग्रज ग्रगर नँ रेह त् स्त्रेह व्यतरावख
दिले-बेताब् पगाह कोर गछ़क

अनु० मोहन निराश

कल कहां जाओगे

धूप में निकलूं तो सीने में ताप समा जायेगा
छाया में बैठूं तो देह का लोहू जम जायेगा
कोई भी मौसम शांति का मधुमास नहीं

आतुर मन मेरे वह समय क्यों कर सहन करोगे !
जब ये तारे ही दीपों को गुल कर देंगे
पथगामी रतौंधों की नाईं राहों के हर ओर कुछ खोजेंगे
लतिका को वंचित कर लेगी हवा, गाथा शेष करेगी
रंग खो जायेंगे औ, हो जायेगी क्षार सुवास
लहरें ज्वार उठा लहरेंगी वह, नभ भी पग पीछे हट जायेगा
वह प्रलय-प्लावन होगा नेह की बातें ही बिसर जायेंगी
आतुर मन मेरे वह समय कहां सहन करोगे

मित्र मिलेगा किन्तु है जैसे कोई अजान अजनबी मानव
कोई पास न आयेगा जो बांधेगा तुम्हारा ढारस धीरज
घावों को सहलायेगा कोई नहीं मरहम ही कर लेगा
पद्दों को सम्हालोगे, हाथों से छूट जायेंगे छंद सभी
जो तुम पुकारोगे तो कंठ में कांटे से लग जायेंगे
गर्भिनी वेला होगी प्रसव-पीड़ा से पीड़ित
होगा लोगों का रेला किन्तु सभी विलग इक दूजे से
कोई भी पगबाट न परिचय देगा तुम्हें दिशा का
प्रत्येक चरण बस आवारा दिशाहीन पड़ता होगा
रवि होगा केवल कुछेक हाथ ऊंचा
होगा शिशिर, केवल कुछेक पग नीचे

आज अगर तुम ज्वाला, स्नेह न सहन करोगे
आतुर मन मेरे उस निमिष किधर किधर जाओगे,

डोगरी कवता

● मूल : रामनाथ शास्त्री

पौड़ां ●

लम्मे उच्चे ए सफेदे, उच्ची तांग जन पुत्रां दे।
रीगें दियां रींगां, रखवाले इस घाटी दे।
कुंगलियें टाल्लियें च ऐंठ ऐ गमान ऐ, गुमान एस पुत्रां दा,
ऐंठ एदी राखी गित्तै सोगे खड़े रौह्ने दी,
इन्दे बिन घाटी ? बिन पुत्तरें बै मा जियां।
अति ऐ गोग्राड़ इन्दा, ओपरा शलैपा ऐ,
साधना कमाल ! तप – त्याग बे मिसाल ऐ !
इन्दा ए गोग्राड़, मान, शान, तप - त्याग सारा, सब्बं किश पौड़ें कारी,
पौड़ां जिनें, मित्तिया दे दूर खल जाई करी
धरती दी आतमा ने मित्तरी ऐ पाई दी !!
चौंगेरे चनार, मामता दा खलार,
जियां शान्त-रस सूफी प्रीत-जोत मन बाली दी
गीत ऐमनी नमानी दे,

देयें दे प्यार, कोई भेद - भाव भाखा नईं,
भुल्ली भल्ली गेदे इत्थें आए परदेसी जन,
धरती नै गोदा लेया, हिरखै दा दुद्द दित्ता,
तन - मन वमैं उनें लोरियें च पाले इयां
सेई होग्रा, सुरगै दा राज थोई गेया ऐ !
अज इयां ऐ बजोन्दा, जुगें - जुगें दे न साथी दमैं
घाटी दे न सन्त, घाटी इन्दा तपोवन ऐ,
अति ऐ गोग्राड़ इन्दा, ओपरा शलैपा ऐ !
साधना कमाल ! तप - त्याग बे - मसाल ऐ !
इन्दा ऐ गोग्राड़, मान, शान, तप त्याग सारा, सब्बं किश पौड़ें करी,
पौड़ा जिनें, मित्तिया दे दूर खल्ल जाई करी
धरतीं दी आतमा ने मित्तरी ऐ पाई दी !!

जड़ें ●

ये लम्बे ऊंचे सफेदे (के वृक्ष) धरती की आकांक्षाओं के प्रतिरूप, कितारों में खड़े, घाटी के रखवाले से; इनकी कोमल टहनियों में गर्व है, अभिमान है (इन्हें) इस धरती का।

गर्व है, इस की रक्षा के लिए सदा तत्पर रहने का। इनके बिना घाटी ? बिना बेटों के जैसे कोई मां हो ? इनकी सुन्दर कान्ति अवर्णनीय है, इनकी छटा निराली है।

इनकी साधना अपूर्व है, तप-त्याग अद्वितीय है। इनका यह रूप मान, शान, तप-त्याग सभी, सभी कुछ उन जड़ों के कारण है। जड़ें, जिन्हों ने मट्टी के दूर नीचे जा कर धरती की आत्मा से मैत्री बना रखी है।

घनी छाया वाले ये चिनार जैसे ममता का ही फैलाव हैं, जैसे शान्त-चित सूफी ने प्रीति की ज्योति फैला रखी हो। जैसे, शान्ति के कोमल गीत हों ! ये अपना प्यार लुटा रहे हैं, सभी तरह के भेद-भावों से ऊपर हैं। इन्हें इतना भी याद नहीं कि एक दिन परदेसी की तरह इस धरती पर आए थे। इस धरती ने इन्हें गोद में लेकर, प्यार का दूध पिलाया था। इनके तन और मन उन लोरियों में यूं परवरिश पाने लगे, जैसे स्वर्ग का राज्य इन्हें ही मिल गया है। आज ऐसा लगता है, जैसे ये दोनों (घाटी और चिनार) युगों-युगों से साथी हों।

जैसे ये (चनार) घाटी के सन्त हैं, और घाटी इनका तपोवन है। इनकी सुन्दरता अपूर्व है, इनकी छटा निराली है।

इनकी साधना अपूर्व है, तप-त्याग अद्वितीय है। इनका यह रूप, मान, शान, तप-त्याग सभी, सभी कुछ उन जड़ों के कारण है; जड़ें, जिन्हों ने मट्टी के दूर नीचे जा कर धरती की आत्मा से मैत्री बना रखी है।

झीलें, सरें, सूटें, नालें, झरने दी सोगी जड़े,

अनगिनत झींगरे, सनाके रुक्ख बैतें दे।
गोरिया दे रेशमी मलैम लम्मे केसें आंगू,
बल खाई खाई पौन टाल्लियां ए जिन्दियां,
कुड़ियें कुआरियें बचारियें वे आंगू जड़े,
जित्त थार लाए उस्सै थारै गी बसाई दिन्दे,
कला दे शलेपे अंगै - अंगै च समाए दे
प्रीतै आले पानिया दे घुट्टै गित्तै हाम्बै दे
अति ऐ गोआड़ इन्वा, ओपरा शलैपा ऐ,
साधना कमाल, तप - त्याग वे मसाल ऐ !
इन्वा ए गोआड़, कला, प्रीत भाव सुच्चा ऐ,

सब्बै किश पौड़ें करी,

पौड़ां जिनें, मित्तिया दे दूर खल्ल जाई करी,
धरती दी आतमा ने मित्तरी ऐ पाई दी !!

हजारां रंग फुल्लें दे, ए धानी सैलतन बांकी,
नजर हारी जा जिन्दे शा, उनें धानें दी फसलें दी,
जोआनी, नाच ते मस्ती, कला सुइयें ते रंगें दी,
ए भोले नाच मस्ताने ए मिट्ठे गीत हिरखै दे

अमर बानी ओ 'लल्ला' दी ओ बागी गीत 'महजूरी'
कला, 'आसी' ते 'नादम' दी बड़ी अनमुल्ल दौलत ऐ !

अमर जोबन ऐ घाटी दा, ए सब सुन्दर लसान्नी ऐ
इवा कारण ओ पौड़ां न जिनें मित्ती दा मन पाया !
उवी ममता दा रस पीता उदी ममता दा ऋण दित्ता !!

●

झीलों, सरवरों, चश्मों, नालों और झरणों के साथ साथ अनगिनत छायादार सुहाने, ये 'बैंद' के वृक्ष हैं, जिन की (कोमल लचकीली) टहनियां, सुन्दरी के रेशमी लम्बे केशों की तरह लहराती हैं, जो कुमारी भोली कन्याओं के समान जिस जगह लगा दिए जाएं उसी जगह को आबाद कर देते हैं, जिन के अंग-अंग में कला की सुन्दरता भरी रहती है, पानी पर झुके हुए यूं लगते हैं जैसे स्नेह के एक घूंट को तरस रहे हों; इनकी सुन्दरता अपूर्व है ।

इनकी साधना अपूर्व है, तप-त्याग अद्वितीय है इनका यह रूप, मान, शान, तप-त्याग सभी, सभी कुछ उन जड़ों के कारण है, जड़ें जिन्होंने मट्टी के दूर नीचे जा कर धरती की आत्मा से मैत्री बना रखी है ।

यहां खिलने वाले हज़ारों रंगों के ये फूल, यह फैली हुई धानी हरयाली, उन शाली के खेतों की, जिनके विस्तार के आगे नज़र हार जाती है, यह (उमंगों भरा) यौवन, ये कलात्मक नाच, यह मस्ती, सुइयों और रंगों में छिपी हुई यह (कश्मीरी) कारागरी, ये भोले नृत्य-उत्सव, ये प्रेम–मुहब्बत के मीठे गीत, लल्लेश्वरी की वह अमर वाणी, महजूर के वे विद्रोही तराने, आसी और नादम की वह सुन्दर कला, ये सभी कुछ बड़ी अमूल्य सम्पत्ति है, यह इस घाटी का सच्चा अमर यौवन है ! यह सब कुछ अपूर्व है, अद्वितीय है, लेकिन इसका कारण वे जड़ें हैं, जिन्हों ने मट्टी का प्यार पा लिया है, उसकी ममता का रस पीकर उसकी ममता का ऋण चुकाया है ।





जम्मू-कश्मीर अकादमी के हिन्दी प्रकाशन

नीहारिका	प्रतिनिधि डोगरी कवि और उनकी कविता	०.७५
अरुणिमा		०.७५
प्रात किरण		०.७५
मधुकण		०.७५
मगधूलि		०.७५
गद्यांजलि		२. ०
पद्यांजलि		२.४०
देस प्यार के गीत		०.८७
डोगरी कहावत कोष		५.००
डोगरी भाषा और व्याकरण		२.८०
दत्त कवि		११.२५
डोगरी लोकगीत भाग (एक)		६.००
डोगरी लोकगीत भाग (दो)		३.३१
डोगरी लोकगीत भाग (तीन)		४.५०
डोगरी लोकगीत भाग (चार)		५.४०
हमारा साहित्य १९६४		४.५०
हमारा साहित्य १९६५		५.२७
हमारा साहित्य १९६६		४.७०
हमारा साहित्य १९६७		......
आधुनिक डोगरी साहित्य		७.६०

ललितकला, संस्कृति व साहित्य अकादमी जम्मू कश्मीर
एक्सचेंज रोड, जम्मू ।

